बात जो
बोलेगी

बात जो बोलेगी

शंकरदयाल सिंह

तिरुपति प्रकाशन, हापुड़

"मेरे सपनों का स्वराज्य जो गरीबों का स्वराज्य होगा, जीवन की जिन आवश्यकताओं का उपभोग राजा और अमीर लोग करते है, वही उन्हे भी सुलभ होनी चाहिए, इसमें फर्क के लिए स्थान नहीं हो सकता। मुझे इस बात में बिल्कुल सन्देह नहीं है कि हमारा स्वराज्य तब तक पूर्ण स्वराज्य नहीं होगा, जब तक गरीबों को ये सारी सुविधाएं देने की पूरी व्यवस्था नहीं हो जाती। समाज में सबको समान अवसर प्राप्त करने का हक है, हा सबकी योग्यता एक-सी नहीं हो सकती। अधिकारो का सच्चा स्रोत कर्तव्य है। अगर हम अपने कर्तव्यों का पालन करें तो अधिकारो को खोजने बहुत दूर नहीं जाना पड़ेगा।"

—गांधी

क्या ⊙ कहां

आजकल आप क्या कर रहे हैं ?

जब मे मैने यह ऐलान किया है कि दल के दलदल से बाहर रहकर साहित्यिक, सास्कृतिक और सामाजिक कार्यों मे अपना समय लगाऊंगा, तब से प्रायः एक सवाल मुझसे पूछा जाता है—आजकल आप क्या कर रहे है ?

उत्तर देते समय चौंधिया जाता हूं। कितने सारे रचनात्मक, शैक्षणिक, व्यावहारिक, सास्कृतिक, सामाजिक, वैयक्तिक, लेखकीय, प्रकाशकीय, पाठकीय बातें बताता हूं जो कर रहा हू तथा रात-दिन समय लगा रहा हूं। एक मिनट की फुर्सत नहीं मिलती, लेकिन सारा तर्क बेकार हो जाता है क्योंकि पूछने वाले का सवाल बरकरार रहता है—यह सब तो ठीक है, लेकिन कर क्या रहे है ?

यानी एक बार राजनीति में रहकर आये व्यक्ति की दिशा वही होती है। यानी सिवा राजनीति के और वह कही का रह नही जाता है, यानी करने के लिए राजनीति छोड़कर और कुछ करना, करना नही हुआ, तभी तो बार-बार एक ही प्रश्न दोहराया-तेहराया जाता है—तो अब क्या यही सब करते रहेगे, वह नही करेंगे ?

विचित्र स्थिति है—एक ओर राजनीति के प्रति कटुता, दूसरी ओर राजनीतिज्ञो के प्रति घृणा और तीसरी ओर महातेवर भी कि अब आप राजनीति मे नही है तो बेकार है।

सोचता हूं तो पाता हूं कि हर आदमी के अन्दर राजनीति पैठ गई है।

कितनी भी उसमे विच्छेद या विच्छिन्नता की बात वह क्यों न करें, उसके अन्दर राजनीति पेवस्त है। लगता है मानो आज का हर आदमी राजनीति मे लगा है या खो गया है।

राजनीति सर्वव्यापी हो गई है। घर-घर में भगवान की कल्पना, कल्पना या भावना या निष्ठा मात्र ही है, लेकिन यहा राजनीति तो बूंद और समुद्र के समान व्याप रही है।

कालेजों के स्टाफ-रूमों मे, वाचनालयों-पुस्तकालयों में, रेलों-बसो मे बड़े काफी हाउसों तथा फुटपाथी चाय की दुकानो में, मदिर-मस्जिद-गिरिजाघरों मे, कक्षाओं-कार्यालयो तथा मदिरालयों में, खलिहानों-नाचघरो मे, और पचायतघरो मे, क्लबो, दुकानों-चौराहों तथा मिल्क बूथो पर—हर जगह यदि सार्वभौम रूप में कोई एक चर्चा सुनने को मिलेगी तो वह चर्चा है राजनीति की।

इसलिए आज घनिष्ठ से घनिष्ठ और औपचारिक से अनौपचारिक हर जान-पहचान का आदमी मुझसे एक ही उत्तर जानना चाहता है कि अब मैं क्या कर रहा हूं, आगे क्या करूगा, राजनीति करने का अब इरादा है या नही, राजनीति मे अब किस दल के साथ जुड़ूंगा और अगले चुनावो मे एम० एल० ए० या एम० पी० आदि के लिए खडा होऊंगा या नही।

प्राय: मैं उत्तरो की दिशा मोड देता हूं—राजनीति छोड़कर और सब कुछ कर रहा हूं। कहकर हस देता हू या मुस्करा देता हूं।

सुनने वाले न समझते हैं, न उन्हे सतोष होता है, क्योंकि यहा का हर आदमी किसी न किसी परिवेश के साथ जुडा है। जिन्दगी के व्यावहारिक सत्ताबोध की व्याप्ति वह राजनीति मे देखता है। हर क्षण राजनीतिक चर्चाओं मे वह राजनीति को कोसता है, राजनेताओं को गालिया देता है, लेकिन जहा कही उसे मौका मिला किसी मन्त्री, उपमंत्री, एम० पी०, एम० एल० ए० की गाड़ी का दरवाजा खुला मिला तो अन्दर समाकर बैठ जाने में वह गौरव मानता है तथा उनसे बातचीत में बार-बार यही भान कराता है कि देश को तो आप ही चला रहे हैं।

समूह भले उनकी धज्जी उडा दे, कोई व्यक्ति अकेलेपन मे किसी राजनीतिक तक को कोसता नही है, गलियाता नही है—बल्कि जितना भी

संभव हो, नवनीत-लेपन जरूर करता है। मेरा यह सब व्यक्तिगत तजुर्बा है।

और इसलिए आज जब मैं समुद्र, महासमुद्र, नाली, परनाली, तालाब कुआं या बांबी से निकलकर बाहर चौराहे पर खड़ा हू तो हर आत्मीय व्यक्ति को यह स्थिति पल्ले नही पड रही है--आखिर मैं क्या कर रहा हूं, क्या करना चाहता हूं तथा मेरी अब दशा क्या होगी---शनि की या मंगल की ?

और मैं खुश गवार अपने में ही मस्त हू। अब चढती उमर नही रही, मध्य बिन्दु पर खड़ा हूं। भूत-वर्तमान सामने है, भविष्य किसी का कोई नही जानता। ऐसे स्वामियो को मैंने देखा-जाना है जो दस-बीस लोगो को एक साथ प्रधानमत्री और मुख्यमत्री का आशीर्वाद दिये चलते हैं तथा कवच-कुडल बाटते हैं, ऐसे-ऐसे, तथाकथित राजनेताओ को जाना-समझा है जो हवा के झोको पर अपना रुख बदलते हैं, ऐसी-ऐसी दुनिया देखी है जहा शाम कुछ, सुबह कुछ, रात कुछ और दिन कुछ। यानी गिरगिट के समान रंग बदलना ही यदि राजनीति है, तो सच मे मैं उस राजनीति मे 'फिट' नहीं हूं।

तभी तो अब हर प्रश्नकर्त्ता के प्रति आक्रोश या गुस्से से अधिक मुझे दया आती है, काश कि उसमे यदि वातावरण की गध और परिवेश का काला-जार नही हुआ होता तो वह उठकर कहता—बहुत अच्छा किया आपने, उस दलदल से अलग हो गये। आज की राजनीति भला इन्सान के रहने की जगह है। छि-छि, राम ! राम ! वेश्याओ और चोरो-डकैतो मे भी एक 'कोड' होता है, आज के राजनीतिक तो उनसे भी गये-बीते हैं। इनके पास तो नीति नाम की कुछ भी चीज नही है। शाबाशी और बधाई देता हूं आपको कि आप इस कीचड़ से बाहर आ गये।

लेकिन कोई भी इन बातो को नही कहता है। हर आदमी की आख मे झांकता हुआ बस एक ही उलाहना पाता हू—यह आपने क्या किया ?

और मैं अब कुछ-कुछ सावधान होता जा रहा हू। इसलिए कल जब यही प्रश्न मुझसे पंडित राम भरोसेजी ने दाग दिया—अब आप क्या कर रहे हैं ?

तो मैंने बिना मर्माहत हुए अदना-सा जबाव दिया—

—अब मैं कुछ नहीं कर रहा हूं।

—यानी ?

—यानी कि चौराहे पर खड़ा हूं, किसी ओर जा सकता हूं, लेकिन कहीं नहीं जाना चाहता हू, कारण चौराहे पर खड़े आदमी तथा चौपाये जानवर की दिशा क्या होती है, इसे जाना नहीं जा सकता, देखा जा सकता है।

□

कई बार राह चलते मजा आ गया

आदमी यदि राह चलते अपनी आंखें ठीक से खोलकर रखे और कान को वहरा न होने दे तो राह भी कट जाती है, मंजिल भी मिल जाती है तथा कभी-कभी मजा भी आ जाता है। मैं जीवन भर यायावर रहा हूं और दिन हो या रात—मुझे राहो मे कभी कोई झिझक नही होती और कई तरह के खतरे सामने आये भी हैं, तो उन्हें हंसते-हंसते पार किया है। डकैतों, चोरों, उचक्कों, ठगों, पाकेटमारों और लफंगों से भी पाला पड़ा है, लेकिन गर्दों के बीच से मैंने अपना रास्ता निकाल लिया है, वैसे ही जैसे होशियार चालक बिल्ली के रास्ता काटने के पहले ही अपनी गाड़ी को आगे निकाल लेता है।

और ऐसे ही अनेक यायावरी क्षणों में मैंने भरपूर मजा भी लिया है। मैं यहा यही चाहूंगा कि अपनी वेवकूफियों को छिपाकर पहले कुछ होशि-यारियों का ही वर्णन करूं, जिससे मायूस राहगीरो को [illegible] भी हो और प्रेरणा भी मिले। तो पहली वारदात जिसका जिक्र करने जा रहा हूं वह घटी बिहार मे—धनवाद और गया के बीच मे मशहूर [illegible], जी० टी० रोड पर यानी आज का शेरशाह सूरी पथ, नेशनल हाईवे नम्बर २, जिस पर एक घंटे मे अमूमन ६०-७० गाड़ियां [illegible] और जिसके किनारे होटलों का इतना हजूम हो गया है कि [illegible], मानो मीना वाजार है। और उसी सड़क [illegible] से पटना की राह में था कि धनवाद मे [illegible] देखता क्या हू कि एक पुलिया के पास [illegible]

[illegible]

रास्ता बंद है। माजरा समझने में एक मिनट की भी देर नहीं लगी। यह भी अनुमान लगा लिया कि ड्राइवर और साथ के लोगों के होशोहवास उड़ रहे हैं। लेकिन रास्ता कोई और न था, सामने ही ५० गज में भी कम दूरी पर रास्ता बंद था और मैंने ड्राइवर को कहा कि वहां पहुंचकर गाड़ी रोक दो।

गाड़ी रुकते ही दोनों ओर के भयानक जंगल से १५-२० लोग हर तरह के हथियार के साथ गाड़ी के आगे-पीछे खड़े हो गये कि तभी मैंने बहुत हिम्मत से काम लेता हुआ गेट खोलकर यह कहता हुआ नीचे उतरा कि पहले मेरी बात सुन लीजिये, फिर जो मन में आये कीजिये। मैं आपका एम० पी० हूं (उस समय मैं उस क्षेत्र के पास में ही एम० पी० था।) मैंने अपना नाम बताया और कहा कि फंसने पर मैं ही मदद करूंगा, इसलिए सबों के साथ ऐसा काम न करें तो ठीक।—यह कहते ही मेरे विचार में पलक झपते ही यह भी आया कि नाम बताकर और परिचय देकर मैं बुरा किया, क्योंकि पहचाना चोर तो कभी छोड़ता ही नहीं है। लेकिन कुछ ही दिनों पहले अखबारों में पढ़ा था कि एक कालेज के प्रिंसिपल रात में कहीं चले जा रहे थे कि उनकी कार को रास्ते में लुटेरों ने ऐसे ही रोक दिया और लूटने ही वाले थे कि उसमें से एक नवजवान ने उन्हें पहचान लिया और तब उसने उन्हें प्रणाम किया और सबों को डांटा, कि हमारे गुरु जा रहे हैं, इन्हें जाने दो।

ठीक यही भाव मेरे मन में भी उठा। मेरे बोलते ही वहां सन्नाटा छा गया, दो-तीन मिनटों की खामोश चुप्पी में कई तरह के विचार मेरे मन में आये कि शायद यह जीवन का आखिरी क्षण हो, क्योंकि एक बार यदि किसी ने हाथ चला दिया तो फिर कोई जिन्दा नहीं छोड़ेगा, क्योंकि उसे यह भय रहेगा कि बच गया तो मैं इन लोगों को नहीं छोड़ूंगा या फिर पुलिस और बड़े अधिकारी इसका बदला लेने से कुछ भी उठा नहीं रखेंगे। लेकिन किस्मत ने मेरा साथ दिया। मैं चुप्पी तोड़ता हुआ बोला—मुझे पटना जाना है तथा आप लोग भी जल्दी में होंगे, इसलिए जो लेना है, ले लीजिये, नहीं तो छोड़ना है तो जाने दीजिये।

उस दल का सरदार जो अपना मुंह गमछे से ढके हुए था और हाथ में

दुनाली बन्दूक लिये हुए था, उसने इस पर कहा—साहब को जाने दो, रास्ता साफ कर दो। और उसने जाते-जाते मुझे सलाम भी किया।

इस प्रकार बच निकला पहली बार!

अब आइये बताऊ यायावरी की दूसरी रोचक घटना। पटना से दिल्ली और दिल्ली से पटना लगभग २५-३० बार मैं कार या जीप से गया हू और अब भी साल में एक बार सड़क मार्ग से जरूर आता-जाता हू। तो हुआ यह कि एक बार जब बरसात के दिनो मे पटना से दिल्ली की राह मे था तो इलाहाबाद और कानपुर के बीच मे खीरो के ढेर के ढेर खेतो के किनारे लगे दिखाई दिये। एक जगह गाडी में कुछ गड़बड़ी देखने को रुका तो उत्सुकतावश खीरों का भाव पूछा, बेचने वाले ने १० रु० का सौ बताया। मैंने यों ही कह दिया ८ रु० का सौ दो तो सारा खीरा खरीद लू। वह तैयार हो गया। अब मेरे लिए भागने का कोई चारा ही नही था। क्या करता, बिना सोचे-समझे बोल गया था। गिनती शुरू हुई, लगभग १३ सौ खीरे थे। उनका दाम चुकता किया और पूरी जीप में खीरा भरकर आगे बढ़ा। अब इन खीरों का क्या करूगा, यही विचार मथे जा रहा था और इसी सोच-विचार में कानपुर पहुंचा। खीरो से भरी जीप को लेकर किसी होटल मे या किसी परिचित के यहां जाने मे भी सकोच का भान हो रहा था। भला करू तो क्या, कि तभी हमारी नजर कुछ ही दूरी पर खीरा बेचते हुए बच्चे पर पडी। मैंने अपने आदमी को भाव जानने को भेजा, तो पता चला कि २५ पैसे में एक। लेकिन उनका आकार हमने जो खरीदे थे, उससे छोटा था। मेरे मन में अकस्मात् यह विचार आया कि कानपुर मे जब खीरा चार आने का एक है, तो निश्चित रूप से दिल्ली मे इसका भाव ज्यादा होगा, तो क्यों नही दिल्ली ले चलकर अपनी किस्मत को आजमाया जाये। मजाक ही मजाक में सारी बात मेरे विचार में आ रही थी। और इसी उधेड़-बुन में खीरो से भरी जीप को लिये-दिये पहुंच गया दिल्ली। तकलीफ हुई तो यही कि यह खीरे नही होते तो रास्ते में रुकता, अलीगढ़ में मित्रो से मिलता-जुलता—लेकिन खीरों ने सारा मंसूबा ध्वस्त कर दिया था।

खैर पहुंच गया दिल्ली और लगभग आठ बजे रात में मैं खीरों से भरी जीप को लेकर खड़ा था आई० एन० ए० मार्केट के सामने, जहां सब्जी और फलवालों की कई दुकानें मेरे सामने थी। अंदर जाकर सब्जी की एक दुकान पर गया और खीरों का भाव पूछा, तो पता चला ५० पैसों का एक, छोटा-सा खीरा। मैंने इस पर सब्जी वाले से कहा—लाला जी, मैं खरीदने नही बेचने आया हू। मैं किसान हूं, अलीगढ के आगे से अपनी जीप पर खीरा भरकर लाया हू। बराबर दरियागंज लेकर जाता था, इस बार आने मे देर हुई तो सोचा कि क्यों नही आपसे ही नया संबंध जोड़ूं। लेना हो तो चलकर देख लें।

लाला ने मेरी सूरत देखी, जो ठीक किसी जाट किसान के समान लगती थी, दूर की यात्रा से लगातार आता हुआ गदा-बिन्दा-सा कपड़ा। लाला उठकर जीप तक गया, उसने खीरों को उठाकर, उलट-पलटकर देखा और किसी घाघ के समान बोला—क्या रेट?

वैसे ६० रुपये सैंकड़ा से कम करना मुश्किल है, लेकिन आपको दो-तीन रुपये कम कर दूगा।—मैंने कहा।

लाला ने मुह बनाया—ये ताजे नही है और कद भी ठीक नही है, इसलिए इतना महगा नही चलेगा।

तो आप ही दाम बताइये—मैंने पूछा।

मुश्किल से बीस-पच्चीस रुपये सैंकड़ा, इससे एक पैसा भी ज्यादा नहीं।—सब्जी वाला लाला घुटे-घुटाए स्वर मे बोला।

मैं समझ गया, यह मेरी विवशता समझ रहा है कि यह बहुत दूर से आ रहा है, इसीलिए इतना कम बोल रहा है, अतः अब मुझे भी कुछ घेरा बांधना जरूरी था—सुनिये लालाजी, लेना हो तो एक बात, पच्चास रुपये सैंकडा ले लीजिये, नही तो मैं सवेरे दरियागज मे अपने पुराने व्यापारी को दे दूगा।

तो मुझसे भी एक रेट सुन लो, देना हो तो ३० रु० सैंकड़ा दे दो, नही तो रास्ता लो। यह चदी का टाईम है, बक-झक का नही।—वह मुझे घूरता हुआ खूसट आवाज मे बोला और अंत में हां-ना करते पैंतीस रुपये सैंकड़ा के हिसाब से मैंने खीरे दे दिए, जिसमें मेरे हिसाब से करीब ढाई सौ रुपयों का

लाभ मुझे हुए था। यानी जीप के डिजल का हिसाब बैठ गया था। बुरा सौदा नही था।

तीसरे दिन मैं आई० एन० ए० मार्केट से होकर जा रहा था। मुझे उत्सुकता हुई तो लालाजी की दुकान में चला गया, वह नही थे, मैंने खीरो का भाव पूछा, तो वहां बैठा लड़का बोला—तीन रेट है बड़े वाले पचहत्तर पैसे, दूसरा वाला पच्चास पैसे और सामने वाला तीस पैसे का एक।

मैं मन ही मन हस भी रहा था और सोच भी रहा था कि यही है किस्मत। जो पैदा करता है वह आठ-दस पैसे का बेचता है और दिल्ली या बड़े आढत का लाला अपनी गद्दी पर बैठा उसका तिगुना-चौगुना वसूल करता है, उसकी तोंद बढ़ती जाती है और बेचारे पैदा करने वाले का कद रोज-बरोज चिन्ता में कम होता जाता है।

और तीसरी यायावरी घटना और भी मजेदार है। यह है रोम एयरपोर्ट की, जो दुनिया में सबसे अधिक महगे और लूटमार जगहों में एक मानी जाती है। वहा बिना दूध की काफी के एक छोटे कप, की कीमत पाच से आठ रुपये और छोटे से पेस्ट्री पीस की कीमत भी छ-सात रुपये से कम नही। छोटी-से-छोटी सजाने, रखने या उपहार में देने के सामान की कीमत सौ-दो सौ-तीन सौ मे कम नही। जिस किसी स्टाल पर खडा होऊ उस पर सजाये सामानो की मूल्य तालिका देखूं तो दिमाग ही चकरा जाये। लगे कि गश आ जायेगा और गिर पड़ूंगा। हिन्दुस्तानी दिल ऐसे भी जरा कमजोर होता है। जिस तरह के डेकोरेशन-पीस की कीमत भारत में जायज रूप से चालीस-पचास रुपये हो सकती थी, उसकी ही कीमत वहां कम से कम दो सौ थी कि यही देखते-सुनते मन ने एक विचार कौंधा और मैं भागा हुआ अपने लाज में गया, जहां मैं अपना सामान छोड़कर आया था। अपना हैंडबेग मैं उठाकर खूबसूरत से स्टाल पर लेकर गया और बडे अदब से मैं वहां की इंचार्ज महिला के पास जाकर खड़ा हुआ और बोला—देखिए, मैं भारत से आ रहा हूं और अलजीरिया जा रहा हूं, वहां से कई मुल्को मे जाना है। भारत में हमारी अपनी फैक्टरी है। जहा कई तरह के प्रेजेन्ट के और डेकोरेशन के

सामान बनते हैं। उनकी कुछ चीजें मैं अपने साथ एक्सपोर्ट के लिए आदेश लेने के लिए सैम्पल बतौर लेकर जा रहा हू। मैं चाहता हूं कि इन्हें आप एक बार देखें।

कुछ अनिच्छा ही सही, लेकिन वह महिला तैयार हो गई, तो मैंने अपना हैंडबेग खोला, जिसमें कई तरह के भारतीय सामान अलजीरिया जिस काफेंस मे जा रहा था, वहा के मित्रों को प्रेजेन्ट देने के लिए ले लिया था। मैगजिन होल्डर से लेकर दीवाल पेंटिंग, बच्चों के खिलौने, हाथकरघे के सामान, जो दस-बीस रुपयों से अधिक किसी की भी कीमत न थी। महिला मेरी मुट्ठी में आ रही थी। उसने पूछा—यदि इनमे से कुछ मैं लेना चाहू तो आप दे सकेंगे?

वैसे, ये सभी नमूने के लिए है, जिन्हे बेच नही सकता, लेकिन दो-चार पीस आप चाहती ही है, तो दे दूगा।—अदर से खुशी-खुशी और बाहर से 'ना-नू'-सा मैंने कहा।

और तब उन महिला ने, जो उस बड़े स्टोर की सचालिका या जो कुछ भी रही हो, पाच चीजें पसन्द की। मन ही मन मैंने अपना भारतीय मूल्य जोडा तो ८०·०० रुपयों के करीब आता था। लेकिन मैंने उन्हें डालर में मूल्य बताया—पच्चास डालर। और उन्होंने बड़ी खुशी-खुशी पच्चास डालर मुझे दे दिए। मैं उनसे भी ज्यादा खुश था। हालाकि मुझे अफसोस आ रहा था कि कुछ और दाम क्यो नही कह दिया। और मैं भली-भाति जानता था कि इसका मूल्य अब वह कम से कम एक सौ डालर करके बेचेगी।

इसी प्रकार बहुत सारे यायावरी संस्मरणों मे मेरा खजाना भरा पडा है। जिसे बारी-बारी से खोलूगा।

□

आप कैसे हैं ?
जी अच्छा हूं !

लगता है कि ससार चक्र मुहावरों के सहारे चल रहा-हो। किसी से मिले नही कि मुंह पर बस एक ही वाक्य थिरक आता है - 'आप कैसे है ?' और उत्तर भी बिल्कुल ट्रेड-मार्क 'जी अच्छा हूं !'

करीब-करीब अब यह प्रचलित मुहावरे-सा हो गया है। इसकी शब्दावली भिन्न हो सकती है, लेकिन तात्पर्य एक ही होता है। जैसे 'सकुशल हैं ?'—उत्तर मिलेगा—'सब भगवान की कृपा है।'

प्रश्न होगा—'स्वस्थ-प्रसन्न तो है ?'

'चला जा रहा है!'—जवाब होगा।

बोलने मे ही नही लिखने मे भी यही देखने मे आता है—आशा और विश्वास है आप स्वस्थ-प्रसन्न होंगे।

—भगवान से प्रार्थना है वह आपको स्वस्थ-प्रसन्न रखें।

और लिखने वाला या उत्तर देने वाला या पूछने वाला और जवाब देने वाला सभी इस बात को भली-भाति जानते है कि यह पूछना भी निरर्थक है तथा यह उत्तर देना भी बेकार—लेकिन फिर भी 'कैसे है' और 'अच्छे हैं' का प्रचलित मुहावरा चालू है।

और कभी-कभी तो यह हद की सीमा भी पार कर जाता है। मैं अपने एक परिचित मित्र के पिताजी के असामयिक निधन पर मातमपुरसी में गया, वही एक सज्जन जो बड़ी प्रतिष्ठा वाले थे आये और सवेदना के दो-चार नपे-तुले वाक्यो के बाद बोले—और सब हाल-समाचार कैसा है ?

—भगवान की दया से सब ठीक है !

मैं हैरान ! भला कल ही इस घर के भले-चंगे उजागर प्राणी का देहावसान हुआ है, घर उजड गया, हाहाकार मचा हुआ है और ये सज्जन पूछ रहे हैं कि हाल-चाल ठीक तो है और उतर भी मिल रहा है—हां, भगवान की दया से सब ठीक है !

मृत्यु से बढ़कर बेठीक बात और क्या होगी—लेकिन फिर भी सब ठीक है—हंसी भी आती है तथा आश्चर्य भी होता है।

हर आदमी आज परेशानी में है – समय-काल-परिस्थिति सबके सब प्रतिकूल है, बीमारी-चिन्ता-असुरक्षा तथा महगाई से लेकर बच्चों की पढाई और लडकी की शादी सब अधियाये हुए हैं—फिर भी 'जी अच्छा हूं।'

लेकिन मुझे एक दिन एक सज्जन से विचित्र पाला पड़ा। पेशे से डाक्टर और स्वभाव से विग्रही दंडित। मुलाकात-नमस्कार-प्रणाम के बाद 'सकुशल हूं' 'सब भगवान की दया है', 'अच्छा हू', 'चला जा रहा है', 'सब ठीक-ठाक है' आदि पेटेन्ट शब्दों को सुनने की आशा में पूछा – कहिए, कैसे हैं ?

—जानना चाहते हैं कि कैसा हूं तो आइए बैठिए बताता हूं। सवेरे उठा तो दूधवाला दूध लेकर आया था--सत्तर प्रतिशत पानी में तीस प्रतिशत दूध। उससे बकझक होकर ही निपट गया—वरना मारपीट की नौबत थी, उसके बाद आया अखबार वाला—लेता हूं बराबर इडियन नेशनल फेंक गया था 'सर्चलाईट'। उस पर बतकही हुई, चाय की आवाज दी तो पत्नी बोली गैस कब से खतम है और कल किरासन तेल मिला नही चूल्हा में अभी देर है। सब्जी लाने स्वयं झोला लेकर गया तो हर चीज में आग लगी हुई थी—पाच-सात रुपयों की सब्जी ली लगे कि एक सांझ भी नहीं होगा, किसी प्रकार भगता-दौड़ता अस्पताल पहुचा वहा मरीजों की कतार देखकर और उनकी चिल-पों सुनकर लगे कि मेरा ही प्राणांत हो जायेगा, दिन भर सिरदर्द रहा इस बात से कि एक मरते हुए रोगी का भाई मुझसे बुरी तरह उलझ गया और उसने मा-बहन की कोई गाली बचाकर नहीं रखी…। डाक्टर साहब और भी अपनी रामायण जारी रखते कि मैंने टोका—मुझे कहीं तुरत जाना है, अतः जरा छुट्टी मागता हू।

अब वे मेरे ऊपर रास पडे –जब समय ही नहीं था तो हाल-चाल क्यों

पूछने लगे ? और मैं जब अपना हाल-चाल बता रहा हू तो एक दिन का भी हाल सुनने को फुर्सत आपको नही है तो मेरा निष्कर्ष ही सुन लीजिये—न हाल ठीक है, न चाल। न मैं ठीक से हू, न आज का समय। मैं उन उल्लुओं मे नही हू जो दिनभर परेशानियों में रहने के बाद भी यही कहते है कि बिल्कुल ठीक हू। मैं ताल ठोककर आपसे सही बात करता हू—मैं बिल्कुल ठीक नही हूं।

मुझे थोड़ी परेशानी जरूर हुई, हैरत भी—लेकिन साथ-साथ इस बात से खुशी भी हुई कि चलो दुनिया में एक आदमी तो ऐसा मिला, जो ताल ठोककर कह रहा है कि 'बेठीक' हूं। यही सही और ईमानदार आदमी है—जो जिन्दगी के जुये को लदना बैल के सामन लादकर चल रहा है, लेकिन सिर झुकाकर नही तनकर, प्रतिकार के साथ।

एक वैविध्य, एक स्पर्शसेतु, एक लक्षणा-व्यंजना।

सही स्थिति-परिस्थिति तो यह है कि कोई भी आदमी आज ठीक नही है, सतुष्ट नही है, सुख-संतोष मे नही है। हर जगह एक तनाव, एक भाग-दौड, एक विपरीत दिशा और एक विभ्रम फैला हुआ है। जीवन की दहलीज पर काटे ही काटे—जो फूलों की सेज पर सोये है और जो मखमली गाव तकिये के सहारे डनलप के गद्दो पर टिके बैठे है—उनकी आंखो मे भी सुख-सतोष कहां है।

लगता है मानो 'कैसे है,' और 'बिल्कुल ठीक हैं,' एक वस्त्र या आभूषण मात्र है—जिसमें दिखाव भले हो, कोई सुधि या सुगध नही है।

और जिस प्रकार घिसटती-लटकती-फिसलती-लगड़ाती यह दुनिया चल रही है, उसी प्रकार मौखिक रूप से 'सब ठीक है,' भी चल रहा है। राग भी और शोक भी। आसू भी और व्यथा भी। पीड़ा भी और संताप भी।

और सबके ऊपर किसी मस्तूल-सा खडा है—'सब ठीक है।' या फिर 'भगवान की दया से सब चला जा रहा है।'

देखें यह कब तक चलता है।

□

गांधी एक याद हैं

इस बात को मैं अच्छी तरह समझता हूं कि हिन्दुस्तान के लोक-जीवन में मुझ जैसी प्रतिष्ठा रखने वाले आदमी को कोई कदम उठाकर उदाहरण उपस्थित करने में बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि आज जिस परिस्थिति में हम डाल दिए गये हैं उसमें मुझ जैसी स्थिति में पड़े हुए स्वाभिमानी मनुष्य के सामने इसके सिवा कोई दूसरा निरापद और मानयुक्त मार्ग नहीं है, सिवा इसके कि आज्ञा का उल्लंघन करके उसके बदले में जो सजा हो उसे चुपचाप स्वीकार कर लें।' —यह वाक्य है गाधीजी के उस बयान के, जो उन्होंने चम्पारन के सदर मुकाम मोतिहारी में मजिस्ट्रेट के सामने १६१७ में कहे थे। और मुझे ऐसा लगता है मानो १६१७ ही वह सही साल है, जब चम्पारन की भूमि से, महात्मा गांधी की अगुआई में बिहार में ग्रामीण जनजागरण का प्रारंभ हुआ।

गाधीजी ने एक टोली बनाई, ऐसी टोली जो आगे के दिनों में प्रान्त और देश के इतिहास में अमर हो गई। वह टोली थी डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, आचार्य कृपलानी, बाबू धरनीधर प्रसाद, बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद, रामनवमी प्रसाद, गया प्रसाद, विन्ध्यवासिनी प्रसाद वर्मा, अनुग्रहनारायण सिंह, शिवनन्दन प्रसाद, रामदयालु बाबू, विन्देश्वरी प्रसाद वर्मा, गोरख प्रसाद जैसे व्यक्तियों की, जिन्होंने १६१७-१८ में स्वप्न में भी *यह नहीं सोचा था* कि उनके स्वप्नों का भारत कभी खड़ा भी हो सकेगा और १६४७ में देश

सच में स्वाधीन हो जायेगा। गांधीजी ने इनके जिम्मे जो महत्त्व का काम दिया था वह यह कि जिन गावों मे नीलहों के अत्याचार से लोग पीडित थे तथा जिनके ऊपर नील की खेती करने के लिए जुल्म ढाये जाते थे उनके घर जाकर उनका बयान लेना और इस प्रकार चम्पारन जिले के गाव-गा व में गांधीजी की टोली गई, एक नये इतिहास का निर्माण शुरू हुआ और व हीं से मूक जनता को वाणी मिली, बेसहारों को सहारा मिला तथा देश को एक आस बधी कि संकल्प के साथ यदि किसी पुनीत काम मे लगा जाये तो बड़ा से बड़ा साम्राज्य भी झुक सकता है।

उस समय का वर्णन करते हुए राजेन्द्र बाबू ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है—'गांधीजी के चम्पारन पहुचते ही रैयतों के दिल से डर न मालूम कहां भाग गया। जो अदालत में भी जाने से डरते थे, वे गांधीजी के पास बहुत बडी संख्या में आकर अपना दुख बताने लगे। उन लोगों के सीधे-सादे हृदय पर न मालूम कहां से अमिट छाप पड गई कि उनका उद्धारक आ गया, अब उनका दुख दूर हो जायेगा।

जिस दिन गांधीजी पर मुकदमा चला और वह अदालत में गये, गांवो से हजारो की तादाद में रैयत वहां आये थे। इतनी भीड हो गई कि अदालत के दरवाजे टूट गये। अदालत मे गाधीजी ने बयान दे दिया। मुकदमा खत्म हो गया। तीन-चार दिनों के बाद गांधीजी की रिहाई हो गई। उनको यह इजाजत हो गई कि आप जाच कर सकते है। अब हजारों की तादाद में रैयत आने लगे। सबने अपना-अपना बयान लिखवाया। हम लोग लिखने लग गये। गांधीजी ने हम लोगो को हिदायत दी थी कि तुम लोग वकील हो, खूब-बूझकर और जिरह करके बयान लिखना। जो बातें लिखी जायें वे सच्ची हों।

उदाहरणार्थ मैं यहां एक बयान दे रहा हूं, जो राजेन्द्र बाबू ने २८-४-१९१७ को मोतीहारी में दर्ज किया था— वहीउद्दीन, पिता का नाम— सायक हुसैन, उम्र—२८ साल, ग्राम—बकरपुर, थाना—केसरिया।

मेरे पास अपनी कुछ जमीन है, जो मेरे चाचा के नाम से है। इसका लगान प्रतिवर्ष चार रुपया आठ आना है। पिछले साल लक्ष्मीलाल तहसीलदार ने मुझसे एक रुपया खोराकी के रूप में लिया और दो रुपया

लेकिन प्रश्नचिह्न आज सत्ता को लेकर खड़ा हो गया है। प्रत्यक्ष चुनावों के बावजूद भी यह प्रायः देखने में आता है कि प्रतिनिधि जब चुन जाते है, तो उनमें और जनता मे आसमान-जमीन का अंतर आ जाता है। रहन-सहन, बोल-चाल, कार्यपद्धति की बात छोड दें, जहा तक आमद का भी सवाल है, दोनों के बीच मे भारी खाई है और मैंने स्वय 'धर्मयुग' में एक लेख द्वारा यह साबित किया था कि एक एम० पी० या किसी विधायक को जो सुविधा और तनख्वाह और टी० ए० आदि मिलता है उसे जोड़ देने पर सामान्य जनता की आय और उसकी आय में सौ गुने का अन्तर है। तो अमूमन होता यह है कि जिस दिन से प्रतिनिधि चुन लिया जाता है, उस दिन से जनता और उसके बीच मे एक भावनात्मक दीवार खड़ी हो जाती है। अपने द्वारा चुने गये प्रतिनिधि को वही जनता विश्वास की जगह शक की दृष्टि मे देखने लगती है और मीन-मेख निकालना शुरू कर देती है दूसरी ओर कई मौको पर अनेक प्रतिनिधियो का आचरण भी ऐसा होता है, मानो जनता के सही प्रतिनिधि न होकर अपने-आपके ही प्रतिनिधि है। और यही एक टकराव की स्थिति पैदा हो जाती है—जनता और जन-प्रतिनिधि मे।

सही बात तो यह है कि दिन-प्रतिदिन सामान्य जन मे यह भाव घर करता जा रहा है कि सत्ता उनसे अलग कुछ लोगों का ऐसा समूह है, जो केवल अपने लिए ही राज-काज करते हैं और जनता से वे पृथक् है। यानी सत्ता का ढांचा आम आदमी से कटता जा रहा है और यही कारण है जो जनरोष बढता जा रहा है। *सरकारी वाहन, सरकारी भवन, सरकारी कर्मचारी* सरकारी आदेश सबों को जनता अपना न मानकर सरकार का मानती है और इस गूढ मनोभाव को समझने की आवश्यकता है कि आखिर यह मनोवृत्ति क्यो पैदा हुई या हो रही है। आग लगाना हो तो सरकारी कार्यालय में और पत्थर फेंककर शीशे तोड़ने हो तो सरकारी बसो के ! ऐसा क्यो ?

स्पष्ट उत्तर मन मे यह उभरता है कि सत्ता और व्यवस्था के बीच एक रेखा या खाई या दीवार खडी होती जा रही है। वर्तमान सरकारी तन्त्र या कार्यविधि की नीव ब्रिटिश शासनकाल की है और उस समय का विधान यह

कहता था कि सरकारी पदाधिकारी या कर्मचारी शासन करने के लिए है और यही कारण है जो उसके रूप-स्वरूप में जनता एक वर्बरता देखती थी और भय खाती थी। आज परिस्थिति भिन्न है, लेकिन मनोवृति मे बहुत अन्तर न आ पाया है। सही बात यह है कि सामान्य जन जितना भय डाकुओं से खाते हैं, उतना ही पुलिस से भी। यानी दोनों को वे वर्बरता की निशानी मान लेते है।

यहा हम गाधी को याद कर सकते है कि उनकी सत्ता की परिभाषा क्या थी! २-७-३१ को 'यग इडिया' मे गाधीजी ने इस सबध मे एक लेख लिखा था, जिसमें,उन्होंने स्पष्ट किया था—'मेरी दृष्टि मे राजनैतिक सत्ता कोई साध्य नही है, परन्तु जीवन के प्रत्येक विभाग मे लोगो के लिए अपनी हालत सुधार सकने का एक साधन है। राजनैतिक सत्ता का अर्थ है राष्ट्रीय प्रतिनिधियोंद्वारा राष्ट्रीय जीवन को नियमन करने की शक्ति। अगर राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाता है कि वह स्वय आत्म-नियमन कर ले, तो किसी प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नही रह जाती। उस समय ज्ञानपूर्ण अराजकता की स्थिति हो जाती है। ऐसी स्थिति मे हर एक अपना राजा होता है। वह इस ढग से अपने पर शासन करता है कि अपने पडोसियो के लिए कभी बाधक नहीं बनता। इसलिए आदर्श अवस्था में कोई राजनैतिक सत्ता नही होती, क्योकि कोई राज्य नहीं होता इसीलिए थारो ने कहा है कि जो सबसे कम शासन करे, वही उत्तम सरकार है।'

अब हमारा काम कुछ हल्का हो गया और अब हम निष्कर्ष के पास पहुंच रहे है। गाधीजी ने थारो का हवाला देते हुए कहा कि जो सबसे कम शासन करे, वही उत्तम सरकार है। लेकिन हमारे वर्तमान समय की परिभाषा मे ऐसा लगता है कि सरकार को लोगो ने समझ लिया है कि हर कदम पर जो शासन करे। ऐसा क्यो? इसलिए कि आज जनजीवन मे भयानक अव्यवस्था और अनुशासनहीनता है। नतीजा है कि जहा अनुशासन न हो, तो सरकारी शासन के भरोसे ही अत मे सामान्य जन जीने की कल्पना करते हैं। जहा अशांति, असुरक्षा, अत्याचार, बलात्कार, अपहरण समाज का अंग बनता जा रहा हो, तो ऐसी स्थिति में हर कदम पर शासन को ही आगे आना पड़ता है। नतीजा यह है कि जनता तक या जनता के पास शासन होते हुए भी आमजन मे एक धारणा हो गई है कि सरकार या शासन का

मात्र काम हर कदम पर खड़ा रहना, हुआ। जनता आज अपने कर्तव्य से मुकर रही है और नतीजा है कि एक ओर लोग शासन पर निर्भर भी रहते हैं, तो दूसरी ओर उस निर्भरता को अनुशासन नहीं मानकर शासन मान बैठे हैं।

एक ऐसी ही खीचतान इस समय चल रही है जनता और सत्ता में अथवा सत्ता और व्यवस्था में। जनरोष का शिकार सरकार होती है। आलोचना सरकार की होती है, पुतले उसके जलाये जाते हैं—जबकि उस समय सामान्य आदमी भूल जाता है कि सरकार या सत्ता उसके द्वारा ही प्रजनित है तथा इसमे हर कदम पर उसकी हिस्सेदारी है।

क्यो ऐसा हुआ ? लगता है कि जनता तक सत्ता की बात स्वीकार करके भी जनता तक वह पहुच नहीं पाई है। और पहुंच इसलिए नही पाई है कि जनता ने मान लिया है कि सत्ता या सरकार उससे कोई भिन्न वस्तु है। और नतीजा यह है कि हर बात में सरकार जाने या सरकार नही कर रही है या सरकार भ्रष्ट है—ऐसे मुहावरे कहे जाते है। जब कि स्थिति यह है कि आज का जन-जीवन भी अस्त-व्यस्त है। लोगों में अभी तक अधिकार और कर्तव्य का बोध सही रूप में नहीं हो पाया है तथा सत्ता और सरकार को वे तब तक पृथक् मानते रहेगे जब तक उन्हें अपने आपका भरपूर ज्ञान न हो जाये। देश मे क्रांति हुई या नहीं, इस बात पर विवाद की गुंजाइश है, लेकिन क्रान्तिकारी परिवर्तन सत्ता मे हुए यह विवाद से परे है, इसी भांति जनता के लिए शासन धुंध के घेरे में भले हो, जनता तक तो शासन है ही।

□

इन पत्रों का क्या करूं ?

आदमी दो ही विधाओं मे अधिक खुलता या खिलता है···पत्र में या डायरी मे। दोनो निजी है। दोनो मे व्यक्ति का व्यक्तित्व बोलता है। दोनो के प्रसंग सार्वजनिक नही होते। लेकिन जब दोनों सार्वजनिक हो जाते हैं तो उनकी निजता में पाठक कही-कही सर्पदंश महसूस करता है, तो कहीं अनुराग, कही भोलापन और कही भयानक सवेग।

मैं यदा-कदा डायरियां लिखता हू, लेकिन बराबर इनका पालन नही हो पाता है। लेकिन पत्रों का एक बड़ा समूह है मेरे पास। लिखे गये पत्र और पाए गये पत्र। लिखे पत्रों पर पता लिखकर, टिकट चिपकाने के बाद पोस्टल-बक्से मे डालते ही अधिकार समाप्त हो जाता है, लेकिन वैसे ही प्राप्त पत्रो पर स्वयं अधिकार हो जाता है। मैंने यत्र-तत्र हजारो चिट्ठिया लिखी होंगी, जिनमें अनेक ऐतिहासिक दस्तावेज होंगी, अनेक मानसिक पीड़ा या उद्वेग से लबालब, कई में स्वाभाविक प्रेम छिटकता होगा, अनेक पत्रो मे शब्दो ने भावो को और भावो ने शब्दो को विचित्र ढग से मर्माहत किया होगा और कई पत्र तो ऐसे भी लिखे होंगे, जिन्हे आज देखूं या पढ़ू तो सहसा विश्वास ही न हो कि ये मैंने ही लिखे।

लेकिन वास्तविकता यह है कि जितने पत्र लिखे होंगे, उतने ही पाये भी है। और आज मेरे पास हजारों पत्रों का एक भारी-सा अलबम तैयार है, जिनके बारे मे बार-बार मैं यही सोचता हू कि इन पत्रो का क्या करूं ? निर्मम होता तो इन्हें फाड़ देता, जला देता, इनकी अस्थि-पजी एक कर

देता, लेकिन नही—इनके प्रति मेरे मन में भयानक मोह ही नही व्यामोह भी है और लगता है मानो शरीर से अधिक ये मनो के आवश्यक अग हैं।

मैंने कइयो को जो खत लिखे उनमे यह भी लिखा है कि मेरे मरने के बाद इन खतों को आप नीलाम कर दें, वैसे ही जैसे कीट्स और शैली और बायरन और नेपोलियन के खत नीलाम हुए। संभव है कि अपने देश मे भी कोई इन खतो को खरीदने वाला अमलटक तैयार हो जाये और तब ये खत खत न होकर नखत हो जायेंगे—मात्र एक वस्तु, एक व्यापार, एक संजीदगी और जड से कटे हुए ड्राइग रूम में सजाये गये किसी फ्लावर-पॉट के फलों की नियति इनकी भी होगी।

लेकिन मेरे पास ये जो हजारों खत है, इनका क्या करूं? महात्मा गाधी, जवाहरलालनेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, डा० राजेन्द्र प्रसाद, रवीन्द्रनाथ टैगोर, प्रेमचन्द, प्रसाद आदि के ये खत तो हैं नही, जिन्हें किसी म्यूजियम या संग्रहालय को सौंप दूं। ये सभी पत्र किन्ही महान् व्यक्ति के हस्ताक्षर की गरिमा ओढ़े हुए नही हैं, लेकिन किन्ही ऐसे व्यक्तित्वों के रक्त-मास-मज्जे से पूरित ऐसी धरोहर जरूर हैं, जहा बिन्दुओं की व्याप्ति सिन्धुओं-सी व्यापक हो गई है और किन्हीं उदार पीडाओं ने मसि को भी *असि की धार* बना दी है।

कभी-कभी उन पुराने पत्रों को पढना, उलटना, देखना, झाड़ना-पोंछना कितना अच्छा और अनुभूतिजन्य लगता है। लगता है मानो ये हस देंगे, लगता है मानो ये रो देंगे, लगता है मानो ये कुपित होकर हमें क्षार-क्षार कर देंगे।

लेकिन कितना सौभाग्यशाली होता है वह व्यक्ति जिसे इतने सारे पत्र *मिलते हैं, क्योंकि ये पत्र प्रतीक हैं विश्वास के, प्रेम के, प्यार के, दुलार के,* मर्मान्तक पीड़ा के, हास के, रुदन के, समर्पण के तथा आत्मानुभूतियो के।

कागज के इन टुकड़ो में कितना ससार बसता है। कितनी बडी आत्मीयता सोती-जागती है। और कितना कहकर भी अनकहा रह जाता है।

कभी-कभी सोचता हू कि आदमी को लिखने और पढने की यदि शक्ति-साधना न मिली होती तो फिर क्या होता? मूक और बधिर और अंधा

आदमी भी टटोलकर सब थाह ले लेता है, वही स्थिति ज्यादा बेहतर है।

इन पत्र-समूहों में कितने पत्र सच में इतिहास है, तो अनेक झंझावात। सभी तो किन्ही एक महिला का लिखा यह पत्र मेरे सामने आता है, तो लगता है कि सब छोडकर मैं केवल पत्रों में ही क्यों न जीऊ'''तुम्हारी चिट्ठी मिली, कहानी भी, वह तो कहानी ही थी, तुम्हारी लिखी हुई कोई भी चीज मुझे बहुत-बहुत अच्छी लगती है। यही कारण है कि तुम्हारी मुलाकात की अपेक्षा तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा मुझे अधिक रहती है। कभी ऐसा लगता है इनसे मेरा परिचय न हुआ होता, तो शायद ज्यादा अच्छा होता।'

एक दूसरे पत्र-प्रसंग में किसी ने मुझे लिखा था—

'वास्तव मे अब ये कागज-कलम भी शुष्क लगते है और अतृप्ति का ही आभास देते हैं। इसीलिए मैंने इस नशे को भी काट डाला है मगर उसका यह अर्थ नहीं है कि तुम्हें विस्मृत कर दिया। वास्तव में तुम एक भाव बनकर मुझमें समा गये हो। इसीलिए और आगे कोई आवश्यकता नही रहती।'

और किसी के पत्र का एक यह अंश—'आसू तो किसी अपने के, नितान्त अपने के समीप ही आते है, वे दिखाने योग्य नही होते, मैं ऐसा मानने को प्रतिबद्ध हूं। मैंने कहा न, दुनिया में 'घात' से अधिक विश्वास ही मिला है इसलिए यह मानने को जी नही करता कि सारे आंसू नाटक के अंश हो सकते हैं। तब क्या सालता है उसे, क्यों रो देती है, क्या कोई कामना का सर्प फुफकारता है ? कामना के फल भी होते हैं, पर उन आखों में मुझे कभी नहीं दीखा। मात्र ख्याल ही ख्याल दीखे।'

एक दूसरा पत्र अंश है—

'क्या बताऊं ? मै तो आग पर चल रही हू। उफ् नही कर सकती। किया तो सुनने को मिलेगा'''यह आग मैने खुद बिछाई है। चुप हू।'

और एक उन्होने कितने विश्वास के साथ लिखा है—

'आजकल जी चाहता है कि रोऊ, खुब रोऊ, जी भरकर रोऊ, कई दिन और कई रातों तक रोती रहू। या कोई ऐसा हो जो मुझे सहारा दे, मेरी दीर्घ—जीवन-गाथा सुनता रहे, सब ठीक-ठीक और सही गाथा। सुने कि

कैसे कोई सत्य, आदर्शवादिता एवं स्नेह का आधार लेकर शैशव से ही एक काल्पनिक जगत् में रहता है, सारा जीवन यूं ही बिता देता है—औरों के लिए और अंत मे अपने ही टूटे आदर्शों के नीचे दबकर घुटता है, लहू-लुहान होता है अकेला। अपने मरण की प्रतीक्षा मे न आगे कुछ दीखता है, न ही पीछे लौटने का कोई उपाय रह जाता है। अशेष दीर्घ प्रतीक्षा।'

यह सही है कि पत्र बिल्कुल निजी और व्यक्तिगत होते है, लेकिन उनमे देश की आत्मा, सामाजिक अनुभूति और वर्तमान राजनीतिक सदर्भों की कही-कही ऐसी पकड़ और अनुगूंज होती है कि उन्हें सभालकर रखना कभी-कभी ऐसा लगता है मानो इतिहास को संभाले हुए हू। ऐसे ही कई विलक्षण और ऐतिहासिक महत्त्व के मेरे पास पत्र है पडित द्वारका प्रसाद मिश्र के, जिन्हे राजनीति का चाणक्य कहा जाता है। मिश्रजी ने जब कभी जो-जो समस्याएं सामने रहीं, उनके परिवेश में मुझे लिखा और आज जो लिखा वह कल बिल्कुल सही उतरा।

उदाहरणार्थ पडितजी के दो पत्रों के अंश यहां मैं दे रहा हू—पहला पत्र ३१ जुलाई, १९७४ का लिखा हुआ है, आपातकाल की घोषणा के पहले, जब देश मे जयप्रकाशजी का आन्दोलन शिखर पर पहुंचता जा रहा था—

'यह सभी के द्वारा स्वीकृत बात है कि देश के लोग आर्थिक दृष्टि से व्यथित हैं और असतोष दिन-प्रति-दिन बढ़ रहा है। जयप्रकाशजी उनकी आवाज बनकर सामने आ गये है। मैं नही मानता कि यह आन्दोलन बिहार की सीमा मे बंद रहेगा। जयप्रकाशजी के विरुद्ध प्रचार करने, आन्दोलन-कारियो का दमन करने या सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं में फूट डालने से यह आन्दोलन नही रुकेगा। दमन तो अहिंसात्मक आन्दोलन को प्रज्वलित ही करता है। जयप्रकाशजी गाधी नही है और इन्दिराजी की सरकार अंग्रेजी सरकार नही है, फिर भी यदि स्थिति बिगडती ही गई तो लोग तुलना करने मे नहीं हिचकेंगे।

आवश्यकता प्रधानमंत्री और जयप्रकाश में झगड़ा बढ़ाने की नही, प्रत्युत् दोनों को एक साथ बिठाकर झगड़ा निपटाने की है। हमने जो भूलें की हैं उन्हें हमे दूर करने के लिए तैयार रहना चाहिए और जयप्रकाशजी

को भी यह सोचना चाहिए कि बुराइयों का विरोध करते-करते कही अराजकता न फैल जाए, जिसे फिर वे भी न सभाल सकें। दोनों ओर आत्मनिरीक्षण की आवश्यकता है। परन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि नेता, चाहे वह सत्ताधारी हो और चाहे जनबल से बली हो, आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति नही रखता। ऐसी हालत मे नेता के बदले परिस्थितिया भविष्य का निर्माण करती है।

हम थोड़े लोग अब बचे है जिन्होने देश के उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न आधी शताब्दी पूर्व देखे थे। हम लोग भी व्यथित हैं, परन्तु विवशता का अनुभव करते हैं। साथ ही यह भी सोचते है कि शायद हमारी चिन्ता अनावश्यक है। स्वराज्य बिना क्रान्ति हुए मिल गया था। क्या वह क्रान्ति अब होने जा रही है? यदि ऐसा है तो हम वयोवृद्ध लोग परमेश्वर से यही प्रार्थना कर सकते है कि क्रान्ति का अन्तिम परिणाम देश के लिए अच्छा हो।'

कहना न होगा कि १९७५ मे आपातकाल की घोषणा तथा १९७७ मे सत्ता-परिवर्तन यह सब क्रान्तिकारी बातें थी, जिनका विश्लेषण मिश्रजी ने दो-तीन वर्ष पहले ही अपने पत्र मे कर दिया था।

इसी प्रकार ९ अगस्त, १९८१ को प० द्वारका प्रसाद मिश्रजी ने जो पत्र लिखा है, उसका एक अश है—

'मैं जब १९८० के मार्च मास मे दिल्ली गया था तब मैने पूछे जाने पर जगजीवनरामजी एवं दिनेश सिंहजी दोनों को राय दी थी कि या तो मेरे सदृश चुपचाप घर बैठकर कुछ लिखने-पढ़ने का काम करें या काग्रेस (आई) मे चले जाएं। दिनेश सिंह ने मेरी राय मानी, परन्तु जगजीवनराम, ने काग्रेस (अर्स) की अध्यक्षता के लालच मे मेरी बात अनसुनी कर दी। मुझे जरा भी सदेह नही कि अब वे पछताते होंगे। सच बात यह है कि इस प्रकार के लोग सत्ता के भूखे है और यदि सत्ता मिल सकती है तो काग्रेस (आई) में ही। मेरा मत है कि जब तक मोरारजी भाई, चरणसिंह, जगजीवन राम, राजनारायण आदि राजनीति से सन्यास नहीं लेते तब तक इन्दिराजी को खतरा नही है। जनता इन महानुभावो की सूरत नही देखना चाहती, परन्तु ये जनता की 'सेवा' करने पर तुले हुए है।'

श्री सीताराम केसरी जिन्होंने विदेशों से मुझे अक्सर ऐसे पत्र लिखे है, जिनमें सौन्दर्य थिरकता है —

'होटल के पीछे राईन नदी
और खिड़की के सामने सुप्रभात
की सुहावनी सुबह
१७ सितम्बर, १९७१

'''फ्रांस की राजधानी पेरिस और पश्चिमी जर्मनी की राजधानी बोन मे महान् अन्तर है। एक सुरा-सुन्दरी में लिप्त और दूसरा उसे प्राप्त करने मे सघर्परत, उपलब्धि के पश्चात् जो आलस्य तुष्टि की भावना देखनी हो, वह पेरिस में मेरे और जो प्राप्त करने के लिए जो जीवत-शक्ति की आवश्यकता होती है वह है जर्मनी-वासियों में। कर्मठता, कर्मशीलता और राष्ट्र को पुन. अपने खोये स्थान पर लाकर रखने की तीव्रतर आकाक्षा से ओत-प्रोत जर्मनवासी सघर्परत हैं।

'यहां भी खिले गुलाब है, पर खेतों में। पेरिस की तरह नही, जहां रईसो के कोटों के बटन की शोभा और पेरिस की तितलियों की जूड़ो में सुशोभित हो रही हो, अन्तर स्पष्ट है। यहा गुलाब सूखने पर गुलकद बनते हैं जो शारीरिक पौष्टिक आहार बनकर स्वास्थ्य प्रदान करता है, वहा गुलरोगन जो बालों की शोभा के साथ खुशबू प्रदान करते हैं। समझे वो दो देशो के चरित्र में जो महान् व्यवधान है? और सुनो।

गुलाब-कन्द और गुलरोगन की असर की कहानी। सिर्फ तीस साल कवल ही तो गुलरोगन में डूबी पेरिस चहेतो के गुलकद से पुष्ट बोनवासियों के आक्रमण के भय से पेरिस की सौन्दर्य की रक्षा के लिए पेरिस को बोनवासियों के सामने नग्न-नर्तकी की तरह भोग-वासना की पूर्ति के लिए समर्पित कर दिया। यही है इतिहास फ्रास और जर्मनी का। गुलरोगन और गुलाव-कद में यही अन्तर है।'

किन-किन पत्रों का जिक्र करू और किन-किन लोगों का। और सही बात तो यह है कि अधिकांश पत्र ऐसे है जिनके वाक्य या शब्द या अक्षर केवल मेरे लिए है, उन्हें खोलू भी तो पढ़ने वाले को उसका कुछ भी तो पल्ले नही पड़ेगा। और मैने कई बार ऐसा भी पाया है कि पत्रो के लिए किसी

खुबसूरत मेड़, दस-बीस पन्नों अथवा स्याही-कलम की कवायत की जरूरत नही होती—शायद कभी-कभी तो किसी मुडे-तुड़े स्लिप पर लिखा एक वाक्य भी जीवन भर के लिए काफी होता है, जिनका बोझ उतरता ही नही। ऐसा ही पत्र मिला है, अभी किन्ही का, जिन्होंने केवल एक छोटा-सा वाक्य लिखा है—

'बहुत कुछ लिखने को दिल चाहता है मगर उसका कोई अर्थ नही।'

मैं लिखना भी जानता हूं और पढ़ना भी जानता हूं, खोना भी जानता हूं और सजोना भी जानता हू—लेकिन सवाल इनका नही है—प्रश्न मेरे सामने केवल एक है कि इन पत्रों का क्या करू ?

क्या लिख दू अपनी वसीयत मे ये सारे पत्र किसी के नाम या यह लिख दू कि चिता पर चन्दन की जगह इन खतो को ही सजा दिया जाय, जिससे मेरे ही साथ-साथ इनका भी इतिहास समाप्त हो जाय।

◻

अच्छा तो हम चलते हैं

सामने एक ट्रक लगी है, जिसके पीछे लिखा है—अच्छा तो हम चलते हैं। रह-रहकर यह वाक्य मुझे झकझोरता है। इसमें मनुहार भी है, कसक भी है, हेंकड़ी और अभिमान भी है तथा एक 'वार्निंग' भी है कि अच्छा, तो हम चलते हैं, आप अपना देखिये।

ये ट्रक वाले भी खूब होते है। उनके पीछे के हिस्से पर ध्यान दीजिए तो एक से अनेक फूलदार नक्कासी से लेकर रंग-बिरंगी बत्तियां, झालरें और तस्वीरें तो देखने को मिलेंगी ही, लेकिन उनके साथ-साथ एक से अनेक वाक्य भी पढ़ने को मिलेंगे, जिन्हें पढ़कर आपका मासूम चेहरा कभी खिल उठेगा, कभी सिहर जायेगा, कभी आप सोच में पड़ जायेंगे और आपकी बत्तीसी खिल जायेगी। एक से अनेक शेरो-शायरी, वेद वाक्य, नसीहत, फटकार, दिवानगी, बेफिक्री और मौसमी शब्दों और वाक्यों का जायजा लेना हो तो इन ट्रकों, बसों या स्कूटरों के पीछे आप गौर से देखें।

सावधान! बुरा चाहने वाले तेरा मुंह काला। जगह मिलने पर रास्ता देंगे। रोड-किंग! हार्न प्लीज! कर भला, पा भला! तुम सा नहीं देखा! मुकद्दर का सिकन्दर! भोले शंकर, पूरा कर सफर! टा-टा, बाई-बाई! फिर मिलेंगे। आदि बहुत सारे वाक्य अमूमन आपको देखने को मिलेंगे, लेकिन कभी-कभी ऐसी शेरो-शायरी भी पढ़ने को उन ट्रकों के पिछले भाग पर मिल जायेगी, जिसे आप हर समय गुनगुनाना चाहेंगे मसलन—

"जालिम ! हमारी आज की यह बात याद रख।
इतना भी दिलजलो का सताना भला नही।"

दिल घुट रहा है आपसे आप आशियाने मे
अच्छी नही चमन की हवा इस जमाने में।

हजारो साल नर्गिस अपनी बेनूरी पे रोती है
बडी मुश्किल से होता है चमन मे दीदावर पैदा।

कमर बांधे हुए चलने को था सब यार बैठे हैं
बहुत आगे गये बाकी जो हैं तैयार बैठे हैं।

मिला तो क्या मिला, पाया तो क्या जब ढूंढकर पाया
मजा है दिल के खोने का इधर खोया, उधर पाया।

ट्रक ड्राइवरो के प्रति मेरे मन मे न जाने क्यों बड़ी सहानुभूति रहती है। मेरा भी अधिकाश जीवन यायावरी मे बीतता है और मुसाफिरी वाले हमसफर के प्रति स्वाभाविक सहानुभूति हर किसी की रहती है। यही कारण है जो जीवन की उदास सध्याए तथा गमगीन रातें भी दौड़-धूप में बीत जाती हैं। और बीहड जगलों, नदी-नालों, पर्वतों के आसपास जब किसी ट्रक को उल्टा औधा दुर्घटनाग्रस्त देखता हू तो मन मे चिहुक पैदा होती है—काश्मीर का ट्रक उल्टा पड़ा है हजारी बाग के जंगल मे या फिर पंजाब का बेचारा ड्राइवर दुर्घटना मे शिकार हुआ धनबाद के पास।

मैं स्वयं 'ग्रेन्ड ट्रक रोड' के किनारे का रहने वाला हू, जिस पर देश मे सबसे अधिक यातायात है। एक बार कागज-कलम लेकर बैठा तो पाया कि एक मिनट मे लगभग ३३ ट्रकें सामने से गुजर गई। यानी कभी-कभी हर दो सेकंड मे एक ट्रक। खाली, भरी, तरह-तरह के सामानों से लैस।

ग्रेन्ड-ट्रंक रोड जिसका आदि निर्माण सम्राट अशोक ने किया था, लेकिन उसका जिर्णोद्धार किया बादशाह शेरशाह सूरी ने और मुगलो के

जमाने से अंग्रेजों के समय तक और आज भी देश का सबसे बड़ा राजपथ यही है। ढाका से लेकर पेशावर तक की दूरी यह पथ तय करता है, लेकिन अब यह कलकत्ता से लेकर अमृतसर तक कितने प्रांतो, नगरो और महानगरों को जोडता है और छोड़ता चलता है। देश में जैसे गंगा के किनारे दर्जनों बड़े-बड़े शहर हैं, वैसे ही ग्रेंड-ट्रंक रोड के किनारे भी कलकत्ता और अमृतसर के बीच आसनसोल, वाराणासी, इलाहाबाद, कानपुर, दिल्ली, अम्बाला, लुधियाना आदि बड़े और सैकड़ो छोटे शहर है। इधर सरकार ने इस पथ का नामकरण शेरशाह के नाम पर 'शेरशाह-पथ' कर दिया है।

ट्रकों का सबसे बडा काफिला इसी मार्ग से गुजरता है। ट्रकों के आवागमन से सडक के दोनों ओर कलकत्ता तक की दूरी गुलजार बनी रहती है तथा लाखों लोगों का रोजगार इनके द्वारा चलता है। एक से अनेक 'लाइन होटल' जिन्हें 'ढाबा' भी कह सकते हैं, हवा भरने और पंक्चर बनाने की दुकानें, मिस्त्रियों का जमघट, पेट्रोल पम्प, स्नान करने तथा आराम की जगहें और कई जगहों पर अवैध चकले तथा शराबखाने इन मार्गों की शोभा-समृद्धि हैं, जिनका लाखों का व्यापार इन ट्रक-ड्राइवरों के कारण ही चलता है। कभी-कभी इन अड्डों पर पुलिस छापों में कितने रहस्यों का उद्घाटन भी हो जाता है। इन अड्डो पर ट्रक अड्डो के अतिरिक्त चोरो, डकैतों, स्मगलरो आदि का भी जमघट हो जाता है।

बात की शुरुआत की थी ट्रकों के पीछे लिखे वाक्यों से और इस लेख को भी वही समाप्त करना चाहता हूं। सिनेमा की लोकप्रियता के कारण ट्रकों के पीछे इन दिनों उन्ही के वाक्य या नाम भी सरलता से देखने को मिल जाते है, जैसे—

दुल्हन वही जो पिया को मन भावे।

सरे राह चलते-चलते।

सावधान गब्बर सिह जा रहा है।

मिलती है जिन्दगी में मुहब्बत कभी-कभी।

मैं का करूं राम मुझे बूढ़ा मिल गया।

झूठ बोले कौआ काटे।

इक परदेशी मेरा दिल ले गया।

दो हंसों का जोडा बिछुड़ गयो रे।

एक सवाल मैं करूं, एक सवाल तुम करो।

कभी-कभी फिल्मी कलाकारों की अनुकृतियां भी ट्रकों के पीछे बनी होती हैं, लेकिन अधकच्चरे हाथों के कारण वे अधिक भोंडी ही रहती हैं। अधिकतर ट्रकों के पीछे के डालों पर 'बुरी नजर वाले, तेरा मुंह काला' ही मैंने लिखा पाया, लेकिन इधर दो-चार ट्रकों के पीछे इस वाक्य के साथ गुस्से का भी इजहार देखा—

बुरी नजर वाले है तू मेरा साला
मगर फिर भी है तेरा मुंह काला।

लेकिन इसके साथ ही कई ट्रकों के पीछे संस्कृत के नीति वाक्य भी देखने में आये हैं, जैसे—

सत्यम, शिवम्, सुन्दरम्
ओ३म् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः

त्वमेव माता च पिता त्वमेव।
त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविण त्वमेव।
त्वमेव भगवन् मम देव देव॥

सत्यम् वद, धर्म चर

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतंगमय ।

इस प्रकार हम पाते है कि ट्रक वालो की जिन्दगी ही नही, उनके ऊपर के लिखे वाक्य भी रोचक और मर्मस्पर्शी होते हैं।

□

मौन भी मुखर होता है

एक बार ही सही, कभी कुछ कह तो देता। पूरे घटे की तलाश न हो, क्षण भी कभी-कभी कालातीत होते है। लेकिन यह क्या—चलिए न महाराज, आपको जहा मन हो ले चलिए !

यह कौन-सा वाक्य है जो रह-रहकर गूज जाता है। साहित्य की कौन-सी विधा, अबूझी। पढ-लिखकर भी आदमी अनजान ही बना रह जाये।

मन बडा भयानक यायावर होता है। कमल की मुदी पखुडियो के अदर बद भौरा उसके खुलने की प्रतीक्षा मे रह ही गया कि मदमत्त हाथी ने आकर उसे निगल लिया, कोई ऐसी ही बात है मन के लिए। अदर ही अंदर कितने सपने देख लेता है, कुलबुला जाता है, हंस देता है, रो पडता है और भूत, भविष्य, वर्तमान सबको एक ही कैनवास पर लाकर खड़ा कर देता है। वह राहगीर बड़ा बेचारा होता है जो चौराहे पर खडा तो हो, लेकिन उसे यह पता न चले कि किस ओर जाना है।

लेकिन कौन-सी यातना ? पक्षियो के चचु में एक विलक्षण अनुराग होता है। एक छोटी-सी किरण वातायन से झाककर पूरे परिवेश को उजागर कर देती है। एक हल्का-सा स्पर्श जन्म भर किसी को गुदगुदा देता है। एक छोटी-सी बात सामने से हटाये नही हटती। और एक बार का हल्का-सा मिलन, फिर कभी न मिलने की केन्द्र-धुरी बन जाता है।

'क्या मालूम ? काल प्रवाह मे कुछ बह जाता है, पर कुछ अंकित भी हो जाता है। प्रयास करती हू, उस अकित को मिटाने का पर फिर यह भी

सोचती हूं कि सभी कुछ मिट जायेगा तो जीवन की इन अंतिम घड़ियों में किस आधार पर खड़ी होकर तड़पती और तरसती रहूं ? यह तड़पन और यह तरसन ही तो अब रह गया है जीवन में।'

और उन्हे खुशी है कि भगवान बहरा नही है, उनके खून का ग्रुप उस खून से मिल गया और वह किसी के काम आ सकी।

और वह बार-बार यही कहती हैं कि मैं लिख तो रही हू, लेकिन जानती हूं कि आपको मेरी बात समझ में नही आयेगी और मैं हूं एक नासमझ !

और यह सारे का सारा अलक्तक राग मैं अपने इस स्तंभ को सौंपता हूं—जानबूझकर कि पढने वाले ज्योमिति की रेखाओ के समान अनुमान लगाते रहें, लेकिन कभी कोई सवाल मुझसे न पूछे, क्योंकि 'शेखर : एक जीवनी' के कथाकार ने भी यही कहा था।

'समय-असमय' आपकी विगत अनुभूतियों का एक आकर्षक सफा है इसे डूबकर आद्योपान्त पढ़ गई। कुछ सस्मरण तो ऐसे लगे जिन्हे शायद आपने अपनी डायरी के पन्नो से उतारकर रख दिया हो। कुछ मे आपकी लेखनी के तीखे व्यंग्य तैरते नजर आये, कुछ में आपकी नितान्त वैयक्तिक, सूक्ष्म एवं सरस अनुभूतियां भास्वर दीख पड़ी।

'आपका राजनीतिक जीवन बड़ा ही स्पष्ट एवं साहसिक रहा है, इसका प्रमाण इस रचना मे कैद है—'रहिमन चुप ह्वै बैठिए, देखि दिनन के फेर' न केवल आपकी मानसिकता हो सकती है वरन उन तमाम राजनेताओ की है, चुनाव जिनके जीवन को मात्र इतिहास बनाकर रख देता है। इस सदर्भ में वर्णित घटनाएं आपके प्रति मेरे अन्तस् मे एक सहानुभूति एव हमदर्दी को जन्म देती हैं। काश ! आपके चुनाव क्षेत्र की जनता आपके हृदय के सत्य, शिव एव सुन्दर को देख पाती, पढ पाती और समझ पाती !

'गरीब जनता, अमीर प्रतिनिधि वर्तमान प्रजातंत्र के 'गुलाबी गाल' पर करारा तमाचा है। दिनकर याद आते हैं।

'हो गया एक नेता मैं भी तो बधु सुनो
मैं भारत के रेशमी नगर में रहता हूं
जनता तो चट्टानों का बोझ सहा करती
मैं चांदनियो का बोझ किस विध सहता हू।'

'खामोश दर्दों का अनजान पहरुआ' जाने-अनजाने चेहरों के मानसिक कैनवास पर आपके व्यक्तित्व के रेखाचित्र हैं। कुछ के रग बड़े गहरे, कुछ के इन्द्रधनुषी। काश, आपके हृदय का साहित्यकार केवल साहित्यकार रहता, विशुद्ध साहित्यकार।

'पत्रों का सिलसिला जारी रखेंगे। यह मेरा एकांत काव्य है। पत्र देना *तो आप बिल्कुल भूल गये। विश्वास है,* आप मुझे भुलाकर भी भूल नही पायेंगे।'

किन्ही उदारमना पाठिका का यह पत्र मेरे सामने है, जिसे मैं सार्वजनिक तौर पर आपके सामने रख रहा हूं। पत्र मे साफगोई और सरलता है। कही कोई बोझिल दबाव नही और शब्दो के सहारे तिर्यकता पैदा करने की कोशिश नही। *और कितना अच्छा लगता है यह सब कि पाठकीय* सवेदनाओ मे मैं स्वयं जुड जाता हू। पाठक और लेखक का भेद मिट जाता है। जानने और समझने की किंचित् जिज्ञासा कही कोई दर्दीले पोरों को सहारा देती है। एक चित्र, धूमिल नही साफ: एक यात्रा अमर्यादित नही, समर्पित सामने आकर खडी हो जाती है। सैद्धान्तिक तौर पर कहा जा सकता है कि कागजो मे आत्मा नही होती, लेकिन वे ही कभी-कभी सार्थक पहर बन जाते है। रेखाए, भुज-बंध हो जाती हैं और एक सरल, सहज, सुवासित विश्वास आंखो की कोरो में तैर आता है—मिलना हो, न हो, पत्र माध्यम बने, न बनें लेकिन जीने का एक विश्वास शब्दो और अक्षरो और मिलनों से परे होता है।

एक विश्वास है जो उन्हे लिखने को विवश कर देता है, एक पीडा है, जो उन्हे लिखने भी नही देती। फिर भी लिखती हैं वे—

कभी दया, करुणा, क्षमा, सहानुभूति और न्याय की भी हकदार हैं। यह सही है कि आज जो वातावरण हो गया है, उसमें अपराधकारियों की सख्या बेहद बढ़ी है और पुलिस का डर न हो तो जो अपराध छुपकर, छिपाकर या अंधेरे में हो रहे हैं वे खुल्लमखुल्ला दिन के उजाले मे छाती ठोककर होने लगें। हालांकि आज भी इस प्रकार के अपराध कई स्थानों मे हो रहे हैं। लेकिन बड़े से बड़े अपराधी, चोर-डकैत, रगबाज, गुण्डे को पुलिस का डर तो होता ही है तथा आम जनता को पुलिस का भरोसा रहता है। आज भी किसी लाल पगड़ी या खाकी वर्दी वाले को देखकर अपराधकारियों को भय होता है तथा आम आदमी को सुरक्षा का एहसास। आज भी कही कोई वारदात हो जाये तो आदमी सबसे पहले थाने की ओर दौडता है और दो-चार-दस पुलिस के जवान यदि आ जाये, तो बड़ी मे बडी भीड ठिठक जाती है और बड़ा से बड़ा अपराधकर्मी भाग खडा होता है।

तो यह मानकर चलें कि सामाजिक जीवन मे पुलिस की बहुत बडी भूमिका है और आम आदमी को मुसीबत के क्षणो मे जैसे भगवान की याद आती है, वैसे ही जुल्म के समय पुलिस की भी।

इधर भारतीय पुलिस के चरित्र पर कई काले धब्बे उभरे है—इससे कोई इनकार नही कर सकता। महाराष्ट्र का मथुरा काण्ड, उत्तर प्रदेश का बागपत काण्ड और भागलपुर का आखफोड काण्ड भारतीय पुलिस के लिए प्रश्न चिह्न कम, कलक अधिक है। किसी भी दण्ड सहिता मे बलात्कार से भयकर अपराध कोई नही है और वह बलात्कार यदि पुलिस स्वय करे तो अपराध को द्विगुणित मानना चाहिए। यो भी विगत कुछ महीनो के अदर पुलिस द्वारा स्वय अपराध एवं बलातकार की कई जघन्य घटनाए प्रकाश मे आई है, जो रोंगटे खडी कर देती है। इस सन्दर्भ मे सबसे खुशी और सतोष की बात यह है कि इन अन्यायो के खिलाफ न्यायालयों एव विधान मडलो एवं ससद में सहानुभूति के साथ बातें उठी हैं और मानवोचित गरिमा के साथ कई निर्णय हुए है।

अतः नि.संदेह आज भारतीय पुलिस न्यायिक कठघरे मे है। रक्षक-भक्षक का मुहावरा लोग याद करते है तथा आम धारणा यह बन गई है कि जो भी अपराध होते हैं या लूट हत्या होती है, उसमे पुलिस की मिली

बेचारी पुलिस

भागलपुर के भीषण आंखफोड़ काण्ड ने जहां एक ओर जनमानस को हिला दिया है, वहीं दूसरी ओर पुलिस के सम्बन्ध में कतिपय अन्य मुद्दों पर भी सोचने के लिए बाध्य किया है? पुलिस अपनी बर्बरता, कठोरता, जुल्म और ज्यादती के लिए बदनाम रही है, लेकिन भागलपुर-काण्ड में तथाकथित दोषी पुलिस अधिकारियों के समर्थन में भी बहुत बडा जनमत जागा और उसने पुलिस का साथ दिया। शायद आजाद भारत में इस प्रकार की पहली यह घटना है कि जनता ने बड़े पैमाने पर पुलिस का साथ दिया है और कदम से कदम मिलाकर नारा लगाया है—नेता-डाकू-भाई-भाई और पुलिस जनता-भाई-भाई तथा पुलिस के समर्थन में कई जगहों में जुलूस निकले, नारे लगे और बाजारें बन्द रही।

इस प्रकार पुलिस के सम्बन्ध में एक नये आयाम की शुरुआत भागलपुर काण्ड के बाद हुई है, जिसे कोई यों ही मानस से लोप नहीं कर सकता है।

अब तक मंत्रियो के भ्रष्टाचार के मामलो पर जनता मे आवाज उठती थी, लेकिन शायद यह भी पहली बार ही हुआ कि एक सम्बद्ध मंत्री जिनका सरक्षण भागलपुर जिले के अपराधियों को मिलता रहा है, उन्हें बर्खास्त करने की माग पुलिसवालों ने जुलूस निकालकर की, लेकिन जनतंत्र का यह भी हास्यास्वाद परिच्छेद है कि पुलिस अधिकारी तो बर्खास्त हो गये, लेकिन वह मंत्री ज्यो के त्यों बरकरार है।

बेचारी पुलिस केवल रोष या गुस्से की ही हकदार नहीं बल्कि कभी-

कभी दया, करुणा, क्षमा, सहानुभूति और न्याय की भी हकदार है। यह सही है कि आज जो वातावरण हो गया है, उसमें अपराधकारियों की सख्या बेहद वढ़ी है और पुलिस का डर न हो तो जो अपराध छुपकर, छिपाकर या अंधेरे में हो रहे है वे खुल्लमखुल्ला दिन के उजाले मे छाती ठोककर होने लगें। हालांकि आज भी इस प्रकार के अपराध कई स्थानों मे हो रहे हैं। लेकिन वडे से वड़े अपराधी, चोर-डकैत, रगवाज, गुण्डे को पुलिस का डर तो होता ही है तथा आम जनता को पुलिस का भरोसा रहता है। आज भी किसी *लाल पगड़ी या खाकी वर्दी वाले को देखकर अपराधकारियों को* भय होता है तथा आम आदमी को सुरक्षा का एहसास। आज भी कही कोई वारदात हो जाये तो आदमी सबसे पहले थाने की ओर दौडता है और दो-चार-दस पुलिस के जवान यदि आ जायें, तो वडी से वडी भीड़ ठिठक जाती है और वडा से वड़ा अपराधकर्मी भाग खड़ा होता है।

तो यह मानकर चलें कि सामाजिक जीवन मे पुलिस की वहुत वडी भूमिका है और आम आदमी को मुसीबत के क्षणो मे जैसे भगवान की याद आती है, वैसे ही जुल्म के समय पुलिस की भी।

इधर भारतीय पुलिस के चरित्र पर कई काले धब्बे उभरे है—इससे कोई इनकार नही कर सकता। महाराष्ट्र का मथुरा काण्ड, उत्तर प्रदेश का वागपत काण्ड और भागलपुर का आखफोड़ काण्ड भारतीय पुलिस के लिए प्रश्न चिह्न कम, कलक अधिक है। किसी भी दण्ड सहिता में वलात्कार से भयकर अपराध कोई नही है और वह वलात्कार यदि पुलिस स्वय करे तो अपराध को द्विगुणित मानना चाहिए। यो भी विगत कुछ महीनो के अदर पुलिस द्वारा स्वयं अपराध एवं वलात्कार की कई जघन्य घटनाए प्रकाश में आई है, जो रोगटे खड़ी कर देती है। इस सन्दर्भ मे सवसे खुशी और संतोष की वात यह है कि इन अन्यायों के खिलाफ न्यायालयो एव विधान मंडलो एवं ससद में सहानुभूति के साथ वातें उठी है और मानवोचित गरिमा के साथ कई निर्णय हुए है।

अतः निःसंदेह आज भारतीय पुलिस न्यायिक कठघरे में है। रक्षक-भक्षक का मुहावरा लोग याद करते है तथा आम धारणा यह बन गई है कि जो भी अपराध होते हैं या लूट हत्या होती है, उसमे पुलिस की मिली

भगत है। तथा पुलिस और पैसे का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित हो गया है। बात कुछ हद तक सही हो भी तो इस पर कुछ गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

ताली एक हाथ से कभी नही बजती। पुलिस के कार्यों मे आज राजनेताओ द्वारा जितना हस्तक्षेप होता है तथा अनुचित दवाव डाला जाता है अपने विरोधियों को त्रस्त करने के लिए जैसे निर्देश दिये जाते हैं और गलत काम कराये जाते हैं—उसका कोप, रोष और जन-विकृति का शिकार पुलिस होती है।

छोटे-छोटे कामों मे भी पुलिस बल का प्रयोग होता है तथा छात्रों, किसानों, मजदूरो एव सरकारी-कर्मचारियो के खिलाफ भी आये-गये दिन पुलिस को ही सामने किया जाता है, जिसका नतीजा है कि सारे कोपभाजन का शिकार बेचारी पुलिस हो जाती है।

आखिर कोई भी जलसा, जुलूस, प्रदर्शन, सभा, बन्द, विरोध सरकार के खिलाफ होता है, पुलिस के खिलाफ नही, वर्तमान जनतात्रिक व्यवस्था के अनुसार सरकार का मुख्य प्रतिनिधि उन समस्याओ के लिए सबद्ध विभाग का मत्री होता है, फिर क्यो नही वह स्वय प्रदर्शनकारियो से मिलने जाता या निबटता—जब कि वह नौकर नही, जन-प्रतिनिधि भी है। होना यह चाहिए कि संबद्ध मत्री सीधा बातचीत करे या अपने विभाग के किसी बडे अधिकारी को भेजे, लेकिन नब्बे प्रतिशत मामलों मे मत्री या बडा अधिकारी घर के अन्दर सोफे या गद्दे पर ऐसे समय में आराम फरमाता है और पुलिस की गोली, अश्रु-गैस के गो[illegible] उन समस्या[illegible] का निदान खोजते हैं कि समस्या सुलझने के[illegible] जाती है [illegible] मत्री स्वय बचने की फिक्र मे पुलिस को अ[illegible] देता है।

तरह की बात करते हैं, लेकिन पुलिस क्या करे। आखिर हर पुलिसकर्मी भी किसी का बेटा, भाई, पति और परिवार का वैसा ही लाड़ला अंग है, जैसे जनता के कोई अवयव, वर्दी हटाने के बाद पुलिस भी आम जनता है। लेकिन प्रदर्शन मे भीड़ का कोई आदमी जब पुलिस की गोली का शिकार होता है तो सभी कहते है कि बेचारा मारा गया, लेकिन वही अपने कर्तव्य का पालन करते हुए जब कोई पुलिसकर्मी किसी गुण्डे-बदमाश-डकैत की गोली या बम का शिकार होता है तो हमारी जबान उस समय उतनी तेजी से सिसकारी नही भरती कि बेचारा पुलिस वाला मारा गया।

पुलिस भी एक विचित्र वर्ग और पेशा है। अच्छे-भले आदमी के ऊपर भी वह पोशाक पड़ी नहीं कि वह नाम-धाम सब छोड़कर पुलिसवाला हो गया। यों भी उसका भय व्याप जाता है और सबसे अधिक काम उस वर्दी और पद का सिपाही से लेकर दारोगा तक उठाते है।

पुलिस के रौब की बात करें तो एक घटना याद आ गई जो एक दिन मेरे एक एस० पी० मित्र की पत्नी ने बताया, घटना पटना की है। वह एक दिन बाजार में मछली खरीदने गईं। गाड़ी से उतरकर मछली तोल लेने के बाद उन्होने अपने ड्राइवर को उसे लाने को भेजा। पुलिस की वर्दी में जब एस० पी० साहब का ड्राइवर मछली लाने गया, तो मछली वाली उसे देखकर चौक गई और गिड़गिड़ाते हुए बोली बाप रे बाप, हमसे गलती हो गई, हम क्या जानते थे कि दारोगाजी के यहां मछली जा रही है। मैंने तो इसमे दण्डी मार दिया है (तोल में कमी कर दी है।)—और यह कहकर तराजू पर फिर मछली तोलकर उसमें बड़ी मछली देकर उसने सिपाहीजी को विदा किया।

पुलिस का अपना ही रोब होता है, इससे कोई इन्कार नही कर सकता मामूली से मामूली वर्दीधारी, सिपाही जब तनकर सड़क पर या किसी चौराहे पर खड़ा हो जाता है, तो वह सरकार का वास्तविक प्रतिनिधि माना जाता है। ऐसे वर्दीधारी सिपाहियों की इस समय अच्छी आय ट्रकों द्वारा भी हो जाती हैं। हाथ बढ़ाया नही कि ट्रक ड्राइवर ने दक्षिणा उस पर थमाई और ऐक्सीलेटर दबाया। इस प्रकार अपराधियों से ही पुलिस की आय नही है वरन बड़े नगरों में फुटपाथों पर फेरी करने, खोमचेवाले,

रातो को सोने वाले जेब काटने वाले, सिनेमा के टिकटो का ब्लेक करने और इधर का माल उधर करने वालो से एक निश्चित निर्धारित रकम पुलिस बगलों की बधी होती है—यह आम धारणा है।

यह भी एक अजीब तमाशा है कि नब्बे प्रतिशत मामलो मे डाका डालने वाले या लूटने वाले पुलिस की वर्दी में होते है, कई बार तो पुलिस की वर्दी पहनकर गुण्डे बदमाश सडक रोककर परिवहनों से भी चैकिंग के नाम पर पैसा वसूलते हुए पकड़े गये है। इस प्रकार भी पुलिस का नाम बदनाम होता है।

कहने के लिए आई० जी, डी० आई० जी०, ए० आई० जी०, एम० पी०, डी० एस० पी० कोई क्यो न हो, पुलिस मे जो रोब दारोगा या कास्टेबल का होता है उसका कोई मुकाबला नही। देहाती या जगली इलाको मे, शहर मे दूर जो थाने होते है, उनका थानेदार अपनी सीमा के अन्दर किसी भी बडे से बड़े जमीनदार, कलक्टर, गवर्नर, एस० पी० से बढकर होता है। उसके रोब से थाने के अन्दर की दूब भी उगते हुए डरती है।

एक बार एक थानेदार ने मुझे बताया कि राज रौब से चलता है। मिनिस्टरो, एम० पी०ओ तथा एम० एल० ए० लोगो ने हाथ जोड़-जोड़कर हस-बोलकर वोट के लिए खुशामत कर-कर के इक्के-दुक्के लोगो को साथ मे बैठाकर सारा रौब ही खत्म कर दिया। हम लोग जहा अटेन्शन मे खडे रहते हैं वही साले दो कौड़ी के तिलचट्टे, जो हमारे सामने थाने में स्टूल पर भी नही बैठ सकते, सामने ही सर्किट हाउस या डाक बगला मे मंत्रीजी की बगल मे सोफा उठाये रहते है।

इसी भांति एक दिन मेरे सामने ही बडी मनोरजक घटना हुई। टैक्सी से कही जा रहा था कि थाने के सामने एक चौकीदार ने गाड़ी रोक दी और ड्राइवर से बोला—ए ड्राइवर साहब, दारोगाजी बुला रहे है। पास ही थाने के बरामदे पर दारोगा बैठा यह सुन रहा था, उसने वही से चौकीदार को फटकारा—साले, बोलने की भी तुम्हे तमीज नही, 'ड्राइवर साहब' और 'दारोगाजी' ऐसे ही बोला जाता है।

पुलिस की कार्यपद्धति और भूमिका पर अनेक कमीशन और कमेटियां बनी, लेकिन पुलिस अपनी जगह पर यथावत् है। ब्रिटिशकाल में लार्ड मैकाले ने हिन्दुस्तानियों पर राज करने के लिए पुलिस का यह रोबदार जत्था तैयार किया था। आज भी वही ढर्रा ज्यों का त्यों चला आ रहा है। नई बोतल में पुरानी शराब।

आजाद भारत में उद्योग, कृषि, शिक्षा, सद्भाव बढ़ा या घटा है, इसकी अलग व्याख्या है, लेकिन अत्याचार, बलात्कार, हत्या, लूट, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद निश्चित रूप से कई गुना अधिक बढ़ा है। पुलिस की संख्या के साथ-साथ उसकी भूमिका भी आज बढ़ी है। आपातकाल के दिनों पुलिस को जब खुली छूट मिली थी, तो उन दिनों पुलिस के चुंगुल में एक से अनेक निरपराधी भी आ गये थे। पुलिस पर शासन का अंकुश आवश्यक है, लेकिन गलत हस्तक्षेप पुलिस की तस्वीर को विकृत करती है।

सब मिल-मिलाकर आज के लिए या कभी के लिए पुलिस एक अनिवार्य युगधर्म है। अत्याचार से बचाव के लिए भी और अत्याचार के लिए भी। 'गंगाजल-संस्कृति' से लेकर 'वाराणसी-बागपत काण्ड' तक उसकी अहम् भूमिका है। लेकिन इन सारी भूमिकाओं की जड़ में कई अन्य तत्त्व भी है, जिन्हें हम नजर अंदाज नहीं कर सकते।

वैसे पुलिस नाम आते ही एक पौरुषमय स्वरूप, तनी-कड़ी-कमान मूछें, रोबदार चेहरा, हंटर-रिवाल्वर-लाठी से लैस जवान आ खड़ा होता है जो रक्षक का प्रतिमान है—भले रक्षक ही भक्षक क्यों न हो, लेकिन उसके बावजूद भी हिन्दी व्याकरण ने उसके साथ क्रूर मजाक किया है। हिन्दी व्याकरण के अनुसार पुलिस स्त्रीलिंग संज्ञा है, जिसका अर्थ होता है 'प्रजा की जान और माल की हिफाजत के लिए मुकर्रर सिपाहियों या अफसरों का दल'। 'हिन्दी शब्दसागर' पौरुष और बल की प्रतीक पुलिस स्त्रीलिंग, अब इस क्रूर व्यंग्य पर क्या कहा जाये। उत्सुकता रहने पर भी इन स्त्री की घूंघट उघारकर नहीं देखा जाता।

इसीलिए मैं सोचता हूं कि पुलिस भी 'बेचारी' है।

□

रातों को सोने वाले जेब काटने वाले, सिनेमा के टिकटों का ब्लेक करने और इधर का माल उधर करने वालों से एक निश्चित निर्धारित रकम पुलिस बंगलों को बधी होती है—यह आम धारणा है।

यह भी एक अजीब तमाशा है कि नब्बे प्रतिशत मामलों में डाका डालने वाले या लूटने वाले पुलिस की वर्दी में होते है, कई बार तो पुलिस की वर्दी पहनकर गुण्डे बदमाश सड़क रोककर परिवहनों से भी चैकिंग के नाम पर पैसा वसूलते हुए पकड़े गये है। इस प्रकार भी पुलिस का नाम बदनाम होता है।

कहने के लिए आई० जी, डी० आई० जी०, ए० आई० जी०, एस० पी०, डी० एस० पी० कोई क्यों न हो, पुलिस में जो रोब दारोगा या कास्टेबल का होता है उसका कोई मुकाबला नही। देहाती या जगली इलाकों मे, शहर में दूर जो थाने होते हैं, उनका थानेदार अपनी सीमा के अन्दर किसी भी बड़े से बड़े जमीनदार, कलक्टर, गवर्नर, एस० पी० से बढकर होता है। उसके रोब से थाने के अन्दर की दूब भी उगते हुए डरती है।

एक बार एक थानेदार ने मुझे बताया कि राज रौब से चलता है। मिनिस्टरों, एम० पी०ओ तथा एम० एल० ए० लोगों ने हाथ जोड-जोड़कर हस-बोलकर वोट के लिए खुशामत कर-कर के इक्के-दुक्के लोगों को साथ में बैठाकर सारा रौब ही खत्म कर दिया। हम लोग जहा अटेन्शन में खड़े रहते हैं वही साले दो कौडी के तिलचट्टे, जो हमारे सामने थाने में स्टूल पर भी नही बैठ सकते, सामने ही सर्किट हाउस या डाक बगला मे मंत्रीजी की बगल मे सोफा उठाये रहते है।

इसी भांति एक दिन मेरे सामने ही बडी मनोरजक घटना हुई। टैक्सी से कही जा रहा था कि थाने के सामने एक चौकीदार ने गाडी रोक दी और ड्राइवर से बोला—ए ड्राइवर साहब, दारोगाजी बुला रहे है। पास ही थाने के बरामदे पर दारोगा बैठा यह सुन रहा था, उसने वहीं से चौकीदार को फटकारा—साले, बोलने की भी तुम्हें तमीज नही, 'ड्राइवर साहब' और 'दारोगाजी' ऐसे हो बोला जाता है।

पुलिस की कार्यपद्धति और भूमिका पर अनेक कमीशन और कमेटियां बनी, लेकिन पुलिस अपनी जगह पर यथावत् है। ब्रिटिशकाल मे लार्ड मैकाले ने हिन्दुस्तानियों पर राज करने के लिए पुलिस का यह रोबदार जत्था तैयार किया था। आज भी वही ढर्रा ज्यों का त्यो चला आ रहा है। नई बोतल मे पुरानी शराब।

आजाद भारत में उद्योग, कृषि, शिक्षा, सद्‌भाव बढ़ा या घटा है, इसकी अलग व्याख्या है, लेकिन अत्याचार, बलात्कार, हत्या, लूट, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद निश्चित रूप से कई गुना अधिक बढ़ा है। पुलिस की संख्या के साथ-साथ उसकी भूमिका भी आज बढी है। आपात्काल के दिनो पुलिस को जब खुली छूट मिली थी, तो उन दिनो पुलिस के चुगुल में एक से अनेक निरपराधी भी आ गये थे। पुलिस पर शासन का अंकुश आवश्यक है, लेकिन गलत हस्तक्षेप पुलिस की तस्वीर को विकृत करती है।

सब मिल-मिलाकर आज के लिए या कभी के लिए पुलिस एक अनिवार्य युगधर्म है। अत्याचार से बचाव के लिए भी और अत्याचार के लिए भी। 'गगाजल-सस्कृति' से लेकर 'वाराणसी-बागपत काण्ड' तक उसकी अहम् भूमिका है। लेकिन इन सारी भूमिकाओ को जड़ में कई अन्य तत्त्व भी हैं, जिन्हें हम नजर अदाज नही कर सकते।

वैसे पुलिस नाम आते ही एक पौरुषमय स्वरूप, तनी-कड़ी-कमान मूछे, रोबदार चेहरा, हटर-रिवाल्वर-लाठी से लैस जवान आ खड़ा होता है जो रक्षक का प्रतिमान है—भले रक्षक ही भक्षक क्यो न हो, लेकिन उसके बावजूद भी हिन्दी व्याकरण ने उसके साथ क्रूर मजाक किया है। हिन्दी व्याकरण के अनुसार पुलिस स्त्रीलिंग सज्ञा है, जिसका अर्थ होता है 'प्रजा की जान और माल की हिफाजत के लिए मुकर्रर सिपाहियो या अफसरो का दल'। 'हिन्दी शब्दसागर' पौरुष और बल की प्रतीक पुलिस स्त्रीलिंग, अब इस क्रूर व्यग्य पर क्या कहा जाये। उत्सुकता रहने पर भी इन स्त्री की घूघट उघारकर नही देखा जाता।

इसीलिए मै सोचता हू कि पुलिस भी 'बेचारी' है।

□

आजकल आप कहां हैं ?

अमूमन मिलने-जुलने पर जो प्रश्न पूछे जाते है, वे लगभग ट्रेड-मार्क होते हैं—कहिए, कैसे हैं ? या फिर, इन दिनो क्या कर रहे है ! या यह कि स्वस्थ-प्रसन्न तो है न ? कवि-शायर-लेखक से—आजकल आप क्या लिख रहे है ? व्यवसायी या किसी ठेकेदार से—आजकल कैसा चल रहा है ? जरा व्यग से सच्चाई को स्पष्ट करते हुए—इन दिनों तो आपकी चादी है ? लेकिन मुझसे और मैं समझता हू कि मेरे समान ही अन्य लोगों से प्राय· आजकल मिलने वाले एक सवाल पूछा करते है—आजकल आप कहा है ?

कहा है—मे उनका तात्पर्य दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई, गुरदासपुर, भोपाल, पटना, लखनऊ से नही है, बल्कि शुद्ध रूप मे उनके पूछने का उद्देश्य बस एक ही होता है—इन दिनो आप किस पार्टी मे हैं या किसी पार्टी मे है तो वहा किसके साथ हैं ?

अजीब-सा सवाल है। आज के पाच-सात-दस-पन्द्रह साल पहले इस तरह का कोई प्रश्न सामाजिक रूप से नही पूछा जाता था कि आप कहा है या किस के साथ हैं। लेकिन आज की वास्तविकता यही है। अनैतिकता, ढुलमुलपन, मुल्लमा तथा कथनी-करनी के भेद ने सबसे अधिक राजनीति मे रहने वाले आदमी की अस्मिता समाप्त कर दी है। समाज का हर व्यक्ति राजनीति मे रहने वाले लगभग शत-प्रतिशत लोगों को सत्तालोभी, भ्रष्ट, झूठा, लम्पट, चोर और दगाबाज मानता है। इतना बड़ा ह्रास और अव-मूल्यन इसके पहले कभी नही हुआ था। और राजनीतिज्ञों के मूल्यगत ह्रास

के कारण ही आज जनप्रतिनिधि सस्थाओं, ससद, विधान मण्डल, नगर निगम, नगर पालिका आदि के भी निष्ठा और मर्यादा पर दाग लग गये हैं तथा वैचारिक धरातल पर एक दिशा-निर्देश देने की जगह मे प्रतिनिधि सस्थाए मखौल होती जा रही है।

तो अपने मूल प्रश्न पर आता हू, जो कोई मिलता है—उनमे अधिकाश लोग झट से यही प्रश्न वन्दूक की गोली के समान दाग देते है—आजकल आप कहा है?

उत्तर मे इच्छा होती है कि इन्हें झाड दूं—कही भी हूं, आपको क्या लेना-देना? क्या आपसे ही मेरी रोजी-रोटी चलती है? या कपडा-लत्ता देते है? या रहने-ठहरने को मकान बना दिया है? अथवा आपके ही प्रताप मे यह दुनिया चल रही है?

लेकिन दुनिया मे रहना है तो चिकना-चुपना होना ही पडेगा। कहा-कहा लडाई मोल ली जाये, अत. खून की घूट पीकर इतना ही जवाब देता हूं – जहा था, वही हू।

कहा थे, और अभी कहा है?—फिर सवाल कानो को चकरा देते है।

काग्रेस मे।—उत्तर देता हू।

किस काग्रेस मे?—हे·· हें···हे···हे···हा···हा···हा···हा···करते हुए वे सज्जन पुन मेरी ओर बत्तीसी चमका देते है।

कोई ऐसा-वैसा समय होता तो बत्तीसी भी झाडने जानता हू, लेकिन स्थिति कुछ कारुणिक है, अतः थूक घूटते हुए कहता हू—असली काग्रेस मे।

—असली-नकली मैं कुछ नही समझता, साफ बोलिये—इन्दिरा काग्रेस मे है या अर्स-काग्रेस मे?

अर्स-काग्रेस में।—जान छुड़ाने के लिए उत्तर देता हू। तब भी फुर्सत नही—भाई साहब, असली-नकली के फेरे मे आप क्यों पड़ गये। भला पोलिटिक्स मे असली-नकली देखा जाना है। हवा का रुख और भविष्य देखना चाहिए। आप भी क्या कर बैठे? अजी आप इन्दिरा-काग्रेस मे होते तो मिनिस्टर होते।—उपदेश सुनने को मिलता है और दूसरी ओर मैं बात बढाने या खीचकर आगे ले जाने की अपेक्षा हाथ जोड़कर नमस्कार करता हू और आगे बढ़ जाता हूं।

जो भी कहिए आज स्थिति चिन्ताजनक से अधिक दुखद है। निष्ठाएं घुटने टेक बैठी है, सबो के ऊपर कुरसी सवार है। और एक बार कुरसी मिल जाने के बाद चिन्ता और बढ़ जाती है, कहीं यह छिन न जाये। अतः मिलन से अधिक विछुड़न की चिंता आज लोगों को परेशान किए हुए है। और जहां राजनीति का हर आदमी परेशान नजर आता है उस कुरसी पर बैठने के लिए, वही बेचारा बैठा आदमी परेशान नजर आता है कुरसी खिसक जाने के आसन्न भय से। नतीजा स्पस्ट है --राजनीति का धर्म, मर्यादा, निष्ठा, सिद्धान्त की जगह अधिकार ग्रसित किये हुए हैं और उस अधिकार को पाने की होड़ मे नैतिक मूल्य समाप्त होते जा रहे हैं। इसीलिए हर आम आदमी की धारणा बनती जा रही है कि देश मे सबसे बड़ा भ्रष्ट वर्ग जो आज उदीयमान है--वह है राजनीतिज्ञों अथवा राजनेताओं का। और उसी से जुड़ा हुआ प्रश्न है—आजकल आप कहा है?

राजनीतिक दलों का कई खेमों-खातों मे विभक्त हो जाना भी एक विचित्र परेशानी है। कांग्रेस का हर दस साल पर विभाजन हो रहा है— पहले १९५९ मे फिर १९७८ मे और उसी से प्रेरणा लेकर जनता-पार्टी जो चार दलों का संयुक्त प्रयास थी, पुनः चार टुकड़ों मे बट गई। भारतीय साम्यवादी दल के कम से कम छः अंग जहां-तहा, जिस-तिस नाम से देखने मे आते है।

जनता की परेशानी इससे बढ़ गई है कि पता ही नही, चलता कि कौन किस दल मे है। वस्तुस्थिति यह है कि सभी दलदल मे हैं। सैद्धांतिक मूल्यों के ह्रास ने चेहरों को विकृत कर दिया है तथा एक विचित्र प्रकार की आपाधापी मची हुई है। जो जहा चिपका है उसे छोड़ना नही चाहता और जो बाहर है वह अन्दर आना चाहता है।

और सत्ता की अथवा कुरसी की महिमा यह कि जो भी उस पर बैठा वह बेदाग नहीं रहा। कितने सारे चेहरे जो विरोध-पक्ष मे चमकीले और बेदाग दिखाई देते थे—सत्ता-पक्ष मे जाते ही उनकी तस्वीर धुधली हुई, उनके चरित्र को ग्रहण लगा, राहु और केतु का सहवास हो गया।

आजकल आप कहा है—वाक्य सही मानों में केवल व्यंग का ही नहीं दया और करुणा और घृणा का भी प्रतीक हो गया है। बहुत सारे चरित्र

आज ऐसे हैं जो अपना संधि-समास ठीक रखते है, उनके लिए न दल, न वाद न सिद्धान्त, न दया, न लाज, न शरण—उनका वस एक ही आवरण—'जैसी वहे वयार, पीठ को वैसी कीजे।'

वहुत सारे प्रतिष्ठित और परिनिष्ठित लोग जब जनता-सरकार बनी तो काग्रेस छोड़कर उसमें शामिल हो गये। इसी प्रकार जनता सरकार के पतन के वाद रातोरात कई खेमे के लोग शुद्ध काग्रेसी हो गये। कल यदि किसी अन्य दल की सरकार केन्द्र में बन जाये तो वे ही चेहरे उसमें या उसके इर्द-गिर्द घूमते-फिरते नजर आयेंगे।

१९७८ मे जब भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस का विभाजन हुआ तो इन्दिरा जी के पुराने लोगो में एकमात्र प० कमलापति त्रिपाठी उनके साथ थे, और सभी लोग 'रेड्डी-काग्रेस' मे। लेकिन वाद मे दक्षिण के कुछ राज्यो के चुनाव-फल आने के वाद तो ऐसी भगदड मची कि स्वय श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी जो सयुक्त काग्रेस के अध्यक्ष थे और 'रेड्डी काग्रेस' के जन्मदाता—वे भी इन्दिरा काग्रेस में चले गये और दूसरे नामधारी अध्यक्ष सरदार स्वर्णसिंह भी इन्दिरा काग्रेस में शामिल हो गये। वल्कि सी० एम० स्टीफन, बसन्त दादा पाटिल, प्रकाशचन्द सेठी, मोहनलाल सुखाडिया, सविता वहन, विपिन चन्द्र पाल, सुधाकर पाण्डेय, सिद्धार्थ शकर राय आदि भी रेड्डी-काग्रेस मे ही थे—जो कब कहां कैसे गये, यह किसी को पता भी नही चला। इसी प्रकार काग्रेस विभाजन के वाद 'इन्दिरा काग्रेस' से अलग भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस का अस्तित्व बरकरार रखने के लिए सबसे अधिक सक्रियता सर्वश्री डा० कर्ण सिंह तथा चन्द्रजीत यादव ने दिखलायी लेकिन ये दोनो भी आज कहां है यह किसी को पता नही है।

ऐसी स्थिति मे बेचारी जनता क्या करे। वह स्वाभाविक रूप में पूछ बैठती है—आजकल आप कहां है?

और सच कहा जाये तो इसका बस एक ही सही उत्तर है—हम कही नही है।

कारण यहां किसी को स्वय भी पता नही है कि वह कहा है या कल वह कहां रहेगा।

□

राजनीति के दरवाजे से भीतर और बाहर

राजनीति अच्छे लोगों के लिए नहीं है, फिर आप क्यों हैं?—पूछा विनोबा ने। बाबा, अच्छे लोग राजनीति में न रहेंगे तो देश का क्या होगा?—उत्तर दिया डा० कर्ण सिंह ने।

लेकिन आज?

सम्भवतः यह बात सन् १९६७ की है। डा० कर्ण सिंह भारत सरकार के पर्यटन मंत्री और कांग्रेस के वरिष्ठ नेता थे और विधान-सभा चुनावों के अवसर पर बिहार का दौरा कर रहे थे। मैं उनके साथ सारे दौरे मे था। दौरे के क्रम में पटना के पास ही बाढ नामक एक स्थान पर वे गए, जहां उन दिनो आचार्य विनोबा पदयात्रा के क्रम मे ठहरे हुए थे। डा० साहब को जब इसकी जानकारी मिली तो उन्होने कहा कि पहले मैं विनोबाजी के दर्शन करूंगा, उसके बाद कोई सभा। और वे विनोबा जी के पास गए। एक सत और एक महाराजा का मिलन ही मैं उसे कहूंगा, कारण तब तक 'प्रीविपर्स' का उन्मूलन नही हुआ था और न तो महाराजा शब्द का ही खात्मा हुआ था, जिसे डा० साहब ने कभी अपने साथ नही ओढ़ा, लेकिन इसलिए महाराजा मैं कह रहा हू, क्योंकि विनोबाजी ने डा० साहब को इसी शब्द के साथ ग्रहण किया—मेरा सौभाग्य है कि कश्मीर के महाराजा हमारे पास आए।—जहां तक मुझे याद है, उनका यही वाक्य था।

और उसके बाद करीब आधे घण्टे तक दोनो के बीच तरह-तरह की बातें होती रही, जहा मैं एक श्रोता या दर्शक की हैसियत से बैठा बहुत

लुब्ध दृष्टि से इस दृश्य को देख रहा था या संभाषण को सुन रहा था। रह-रहकर मेरे मन में एक ही बात कौंधती थी कि कभी किसी जमाने में इसी भांति महाराज जनक और महर्षि याज्ञवल्क्य की बातें हुई होंगी अथवा इसी भूमि पर कभी भगवान बुद्ध और महाराज बिम्बिसार का मिलन हुआ होगा।

कि तभी विनोबा जी ने डा० कर्ण सिंह से एक अप्रत्याशित प्रश्न पूछ दिया—महाराजा साहब, आप एक बात बताएं। लोग कहते हैं कि राजनीति भले आदमियों की जगह नहीं है और किसी विद्वान के लिए तो यह और भी नहीं है। और आपको भगवान ने जितनी समृद्धि दी है, उससे अधिक विद्वत्ता, नम्रता। किसी बात की कमी नहीं है, फिर आप क्यों राजनीति में आए?

—बाबा, बात यह है कि आज जो व्यवस्था है, उसमे सारा कार्य राजनीति के माध्यम से ही होता है। और यदि भले लोग राजनीति में न रहेंगे, तो इस विशाल देश का क्या होगा!—डा० कर्ण सिंह ने विनोबा जी के प्रश्न का तत्काल उत्तर दिया और इस बात पर दोनों हंस दिए।

यह बात मेरे मन मे घर कर गयी। माना मैंने कि राजनीति मे अच्छे लोग न रहेंगे तो देश का क्या होगा। लेकिन आज? यही प्रश्न और उत्तर रह-रहकर मुझे खाए जा रहा है। कहां गया वह बोध-वाक्य, जिसे वर्षों तक मैंने स्वयं संजोया था। क्या आज की राजनीति अच्छे लोगों की राजनीति है? क्या राजनीति से और निष्ठावान व्यक्ति से कोई तालमेल है? क्या देश को अच्छे लोग चला रहे हैं? या क्या जनता अच्छे लोगों के सहारे देश को चलाना चाहती है?

एक पर्व है—अनन्त। हम लोगों को बचपन में एक बड़े से पत्र में उस पर्व के अवसर पर हाथ लगाकर मथना पड़ता था और पण्डितजी साथ होते थे, जो मथनी से उसे मथाते थे और हर चक्र के बाद एक प्रश्न पूछा जाता था—क्या मथ रहे हैं? उत्तर देना पडता था—क्षीरसमुद्र। कुछ पाया—फिर पण्डितजी सवाल करते थे। हां—जवाब दिया जाता था। क्या? अनन्तगोसाईं! पण्डितजी इस पर कहते थे—माथे लगा लें। और हम सब मथनी से अपना माथा छुआ लेते थे। याद नहीं है कि कितनी बार

का यह क्रम था। लेकिन कई बार इसे करना पड़ता था और बार-बार माथे को छुआना भी पड़ता था।

ठीक इसी प्रकार आचार्य विनोबा का यह सवाल और डा० कर्णसिंह का यह जवाब मेरे मानस में कई बार आया है, गया है, टकराया है और उसके औचित्य पर सोचने के लिए मैं अपने आप में मजबूर हुआ हूं। क्या अब भी विनोबा यह सवाल पूछ सकते हैं? क्या अब भी डा० कर्ण सिंह यह जवाब दे सकते हैं? क्या अब भी मैं दोनों के औचित्य बोधों पर मुग्ध हो सकता हूं?

डा० कर्ण सिंह जो स्वयं एक भले आदमी हैं, बौद्धिक हैं, सांस्कृतिक हैं, गरिमामय हैं, चेतनायुक्त हैं, हंसमुख हैं, समझदार है और भारतीयता से ओत-प्रोत हैं, लेकिन क्या आज की राजनीति में ऐसे व्यक्ति की गुंजायश है? सीधा-सा सवाल है मेरा, जो डा० कर्ण सिंह से भी हो सकता है और उन सारे लोगों से जो राजनीति में हों या पृथक्, लेकिन इसी देश में रहते हैं और कभी-कभी अपने-आपको गिरवी से छुड़ाकर सोचते हैं।

पिछले दिनों डा० कर्ण सिंह ने जब अर्स कांग्रेस से इस्तीफा दिया तो मैंने उनसे सीधा सवाल किया—अब आप क्या करेंगे? किसी पार्टी में जाएंगे या कि······

उन्होंने मेरे प्रश्न को छीनते हुए जवाब दिया—मैं फिलहाल किसी दल में नहीं जाऊंगा। साहित्यिक-सांस्कृतिक और बौद्धिक कार्यों में अपने को लगाऊंगा और कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक देश में घूमूंगा, एक बार, दो बार, चार बार, जिससे इस देश की आत्मा को पहचान सकूं और साक्षात्कार कर सकूं।

आखिर बात कहां से कहां आ गयी। जिन मान्यताओं को लेकर डा० साहब राजनीति में आए थे, वे मान्यताएं खुद-ब-खुद डगमगा गयीं। आदमी ज्यों का त्यों रहा, नीचे की धरती खिसक गयी। राजनीति, डा० कर्ण सिंह, आचार्य विनोबा, अच्छाई, विशाल देश भारत, भले लोगों की जरूरत—क्या अब भी इनका कोई सन्दर्भ है?

एक बात जरूर है कि डा० कर्ण सिंह की मान्यता या मर्यादा औरों से भिन्न है। राजनीति में भी कभी वे तिरस्कृत नहीं हुए। उनकी अपनी

अलग पहचान बनी रही। १८ वर्ष की आयु में एकबारगी उन्हें कश्मीर का सदरे रियासत बना दिया गया और वे अवान्तर रूप में राजनीति में आ गए। तब से लेकर आज तक, लगभग ३०-३२ वर्षों का कार्यकाल—वे राज्यपाल, केन्द्रीय मंत्री और ससद सदस्य के रूपों में चमकते रहे। कभी उनके चरित्र पर कोई दाग नहीं आया—कारण केन्द्रीय मत्री के रूप में उन्होंने कभी भी सरकारी आवास नहीं लिया, वेतन के नाम पर केवल एक रुपया लेते रहे, निजी कर्मचारियों की फौज नहीं खड़ी की, दिखावा की उन्हें कोई जरूरत महसूस नहीं हुई, लेन-देन से वे कोसों दूर रहे, आदमियत में कोई फर्क नहीं आने दिया, बटोरने-सटोरने की उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी, जिस पद पर रहे—कबीर के समान 'जस की तस धर दीनि चदरिया' की कहावत को चरितार्थ करते रहे। और स्वयं उनका लोक-जीवन अपनी हस्ती पर टिका रहा। १९७७ में कांग्रेस के सभी दिग्गज आसमान के तारे गिनने लगे, उत्तर भारत साफ हो गया, हर जगह जनता पार्टी और उस दौर में भी डा० कर्ण सिंह साठ-सत्तर हजार वोटों से चुनकर आए और इसी भांति १९८० में इन्दिरा-कांग्रेस का जब बोलबाला हो गया और सभी दलों का दिवाला निकल गया, उसमें भी डा० कर्ण सिंह ६०-७० हजार वोटों से चुनकर आए। और विजय कोई ऐसी-वैसी नहीं थी, इन्दिराजी और शेख अब्दुल्ला दोनों संयुक्त रूप से उन्हें हराने के लिए कटिबद्ध थे, साथ-साथ सभाएं कर रहे थे और शेख सरकार की पूरी ताकत लग गयी थी, लेकिन वाह रे जम्मू-कश्मीर की बहादुर जनता, उसने भी अपने शौर्य का परिचय दिया कि डा० कर्ण सिंह हारे तो कश्मीर का माथा झुक जाएगा। यह डा० कर्ण सिंह की राजनीति में अपनी पहचान है।

सबके बावजूद सच्चाई यह है कि डा० कर्ण सिंह राजनीति में होकर भी राजनीति के हैं नहीं अथवा यों कह सकते हैं कि राजनीति उनके लिए नहीं है। तभी तो उनकी पहचान आम आदमी भी बौद्धिक या सांस्कृतिक या आध्यात्मिक रूप में करता है। संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, फ्रेंच, पंजाबी तथा उर्दू के साथ ही अपनी मातृभाषा डोगरी में—एक कवि, एक साहित्यकार, एक सहृदय मित्र के रूप में उन्होंने अपनी जगह बना ली है।

कमल दिन में खिलता है और रात में उसकी पंखुड़ियां मुंद जाती हैं

और कुछ ऐसा ही है कई और फूलों के सम्बन्ध में भी, जो कभी सूरज को लक्षित होकर खिलते-फूलते हैं, तो कभी रात की रानी बनकर महमंहाते हैं। लेकिन गुलाब दिन मे खिलता है और रात मे भी खिला रहता है। खिला तो मुदता नही और एक साथ कभी नही मुरझाता, भले एक-एक कर उसकी पंखुड़ियां झड़ती चली जाए और मिट्टी को उनका सुवास मिलता जाए। डा० कर्ण सिंह का जीवन भी उसी गुलाब का प्रतीक है—सदाबहार हसमुख चेहरा, कान्तियुक्त देहयष्टि, खिला हुआ रूप-यौवन, वाक्यों मे माधुर्य-युक्ति, आखो-भौहों-बरौनियों पर संस्कार की अद्भुत धूप तथा मिलने वालों पर सदा के लिए छोड़ती-सी स्मृति।

डा० कर्ण सिंह ने राजनीति मे अपना गुरु पं० जवाहरलाल नेहरू को माना और दर्शन-साहित्य मे अरविन्द को। एक ओर अपना सम्बन्ध-सम्पर्क देश के सभी आध्यात्मिक-बौद्धिक व्यक्तित्वों से रखा और दूसरी ओर समाज के उस वर्ग से भी, जो सामान्य होते हुए भी कारगर होते है। जीवन के सौदर्य को कभी भी उन्होंने म्लान नही होने दिया। महाराजा होते हुए भी उसके विकारों से अपने को दूर रखा और राजनीति मे रहकर भी उसके छल-छद्मो के शिकार नही हुए। आज भी उनके मुह पर एक अबोध कान्ति विराजती होती है—किसी कश्मीरी अल्हड़ युवती की सेब-नुमा मुस्कराहट या फिर देवदारु के उन पक्षियो के समान जो अपनी मरमर ध्वनि से यात्रियो का मन मोह लेते है।

'मानसरोवर' हमारे हाथ से चला गया, हड़प लिया चीनियों ने, यह तथ्य डा० राम मनोहर लोहिया ने पहली बार लोक सभा मे रखा था, लेकिन अभी भी एक 'मान सरोवर' बरकरार है और वह है न्याय मार्ग, चाणक्यपुरी, दिल्ली मे जहा डा० कर्ण सिंह रहते है। उनका छोटा-सा, प्यारा, बौद्धिक परिवेश लिये बंगला, जिसका नाम उन्होने रखा है—मान सरोवर। और एक बड़ी कृपा उनके ऊपर भगवान की ओर भी है राज गया और सभी राजाओं से लक्ष्मी बिछुड़ गयी, लेकिन डा० कर्ण सिंह के साथ हर समय यश, राज्य और लक्ष्मी तीनों एकजुट होकर—यशो-राज्यलक्ष्मी के रूप मे रहती है।

डा० कर्ण सिंह ९ मार्च, १९८१ को अपने जीवन की अर्धशती पूरी

कर चुके है। क्या माना जाए इसे? मोहन राकेश के शब्दों में—'आधे-अधूरे' या फिर सतो-महर्षियों की वाणी में 'भरे-पूरे'? हम तो यही मानकर चलते है कि उनके जीवन का यह बीच का पडाव है, जहां से अभी उन्हे कोसों दूर जाना है—फ्रास्ट की उस पक्ति के समान जिसे जवाहरलाल जी अपने कलेजे से लगाए रहते थे। —माईल्स टु गो···'

□

हम भी डटे हैं वेहया की तरह

अर्स-कांग्रेस का आखिरी विकेट भी गिर गया। श्री यशवन्तराव वलवन्त राव चौहान आउट हो गए या यह भी कहा जा सकता है कि वाक्आउट कर गए। श्री चौहान इस टीम के ओपनिंग वैट्समैन थे और काफी मजबूती के साथ कप्तान का पद भी सभाले रहे, लेकिन आखिर बेचारे कब तक मैदान मे खड़े रहते। अब इनके वाद जो दो बड़े खिलाड़ी हैं और रह-रहकर पैंतरा बाध रहे है—वे श्री चौहान की तरह प्रारभिक बल्लेबाज नही होकर वाद मे आए यानी 'बोरोड' खिलाड़ी हैं। बाबू जगजीवन राम और श्री देवराज अर्स—दोनो के दोनो ऐसे है, जिन्होने किसी जमाने मे यह जौहर दिखलाया था कि इस कांग्रेस को तोडने का सेहरा अपने माथे पर लिया था। आज वेचारे दोनो के दोनों इस सत्रास मे लगे हैं कि फिर से कैसे एक सशक्त टीम बनाए। दोनों की हालत बेचारे गावस्कर वाली हो रही है। किसी जमाने का महान् बल्लेबाज पिछली बार दोनो देशों की यात्राओं मे टांय-टांय फिस्स बोल गया, अब धाक जम ही नही रही है। ठीक वही स्थिति इन दोनो महान् धनुर्धरो की हो रही है। तीर पर तीर चलाए जा रहे हैं, कोई निशाना हो नही लग रहा है।

दुनिया के इतिहास मे यह भी एक नायाब बात है कि पूरी की पूरी टीम वाहर हो गयी हो, कप्तान भी आउट हो गए हो, फिर भी टीम मैदान मे खड़ी है। कांग्रेस-अर्स नाम तीसरी पीढी का है। पहले यह रेड्डी कांग्रेस कहलायी, फिर स्वर्णसिंह-कांग्रेस का खिताब मिला और बाद मे अर्स आए।

अर्स, जिनके मन में बराबर एक ही अरमान रहा कि किसी प्रकार अगले कदम मे देश का प्रधानमंत्रित्व हाथ आए। राम जानें, यह ख्यालों और ख्वाबो की दुनिया कब तक चलती है ! वैसे इस देश मे प्रत्यक्षतया पांच-सात प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार मैदान मे हैं—मोरारजी भाई अभी जीवित हैं और भगवान ने चाहा तथा उनकी अपनी विधि ठीक से काम करती रही तो अगले पचास वर्षों तक भी उनका कोई बाल-बांका नही कर सकता, चरणसिंहजी दाव की तलाश मे बराबर रहते हैं, चन्द्रशेखरजी के साथियों का ख्याल है कि इन्दिराजी के बाद यही देश को चला सकते हैं। अटलजी को अपनी तेजस्विता पर भरोसा है, जार्ज फर्नाडीस यह मानते हैं कि सेक्युलर देश मे एक बार उन्हें चांस मिलना चाहिए, बाबू जगजीवनराम का एक ही ख्याल है कि एक बार उन्हें देश का प्रधानमंत्री होना ही चाहिए, देवराज अर्स की कसम है कि यह क्या कि केवल उत्तर भारत वालों के हिस्से मे ही प्रधानमंत्रित्व रहेगा, सी० पी० एम० वालो का अब मानना है कि ज्योति बाबू जब बंगाल चला सकते हैं तब पूरा हिन्दुस्तान क्यों नही चला सकते और सबसे अलग बैठे डा० कर्ण सिंह के बारे मे किसी ज्योतिषी ने यह भविष्यवाणी की है कि आज नही तो कल देश के प्रधानमंत्री यही होंगे। जहां इतने अधिक प्रधानमंत्री पद के प्रत्याशी हों, उस देश का क्या कहना ! लेकिन सही मानें मे भावी प्रधानमंत्री के रेस मे अब जो नाम लिया जा रहा है वह है—राजीव गांधी का।

अब मैं मूल विषय पर आता हू—इधर उधर जाने-झाकने की गुजायश कम है। मैं भी अर्स-काग्रेस का ही एक अदना-सा अड़ियल या सड़ियल सदस्य हूं, जो इसके जन्मकाल से ही इसके साथ लगा हू। शुरू मे यही काग्रेस सही कांग्रेस कही गयी थी। २ जनवरी, १९७८ को इन्दिराजी ने अपनी नई टीम घोषित कर दी थी और अपने ही नाम पर उसका नामकरण किया था—इन्दिरा-काग्रेस और तभी से यहां यह परिपाटी चल गयी है कि जो काग्रेस का अध्यक्ष होगा उसी के नाम पर पार्टी का नामकरण होगा। श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी रहे तो रेड्डी-कांग्रेस, सरदार स्वर्ण सिंह आए तो स्वर्ण सिंह-काग्रेस और अर्स अध्यक्ष हुए तो अर्स-कांग्रेस। उधर शुरू से लेकर अब तक केवल इन्दिरा-कांग्रेस ही नाम है, क्योकि इन्दिराजी कल भी उसकी अध्यक्षा थी,

आज भी है और शायद कल भी रहेगी। इधर एक खतरा और है। जो भी अध्यक्ष हटता है या हटाया जाता है वह सीधे इन्दिरा-कांग्रेस में मत्था टेकता है। ब्रह्मानन्द रेड्डी निकले तो सीधे वहीं गए और सरदार स्वर्ण सिंह जी तो यहां रहते हुए भी वहीं थे। इसीलिए इस दल के लोग यह कम चाहते हैं कि इसका अध्यक्ष हटाया जाए, क्योंकि खतरा है कि वह सीधे 'गुरुद्वारे' में जाकर मत्था टेक देगा।

शुरू-शुरू में जब इन्दिराजी ने अपने अलग दल की घोषणा की तो सिवा पं० कमलापति त्रिपाठी के और कोई भी वरिष्ठ सदस्य उनकी टीम में नहीं था। दो मुख्यमंत्री जो उनकी वजह से आए—श्री देवराज अर्स और डा० चेन्ना रेड्डी—वे जरूर रहे, लेकिन हाय रे किस्मत, आज ये तीनों धाराशाह में हैं तथा उनकी जगह ऐसे-वैसे आ गए, जो उन दिनों छुटभैयों की गिनती में थे। शुरू-शुरू में सर्व श्री डा० शंकर दयाल शर्मा, मोहनलाल सुखाड़िया, प्रकाशचन्द्र सेठी, मीरकासिम, सरदार महेन्द्र सिंह गिल, श्यामा चरण शुक्ल, सिद्धार्थशंकर राय, गोविन्दनारायण सिंह, लक्ष्मीशंकर यादव, बसन्तदादा पाटिल, चौधरी रणवीर सिंह आदि सबके सब इधर ही थे और सबसे मुखर सदस्य दो थे—डा० कर्ण सिंह और श्री चन्द्रजीत यादव। लेकिन जैसे-जैसे गंगा और यमुना का पानी बहता गया, वैसे-वैसे रातोरात लोग खिसकते रहे और यह क्रम ऐसा चला कि गोवा की पूरी की पूरी कांग्रेस इन्दिरा-कांग्रेस में जा मिली तो फलां नेता रातोरात इधर से उधर हो गए और अब क्या जब इसके सबसे बड़े नेता श्री यशवन्त राव चौहान ने ही एलान कर दिया कि इन्दिरा-कांग्रेस ही सही कांग्रेस है और इसके पहले लोकसभा चुनावों के फल निकलते ही यही बात स्वयं श्री देवराज अर्स ने कही थी।

लेकिन सबके बावजूद मेरे समान बहुत सारे लोग अभी भी बेहया के समान डटे हैं। और हम छुटभैयों को कौन पूछता है—बाबू जगजीवन राम तथा श्री देवराज अर्स भी इसी पशोपेश में डटे हैं कि जाएं तो जाएं कहां। सिवा इसके और कौन मंच है। लेकिन सच्चाई यह है कि नब्बे प्रतिशत इस टीम के सिपाही शुरू से ही कंपकंपी में थे। बाहर चाहे कितना भी गुर्राहट क्यों न रखें, अंदर ही अंदर यह भाव था कि किसी प्रकार इन्दिरा-कांग्रेस से

बुलावा आ जाता, एन्ट्री मिल जाती, प्रवेश हो जाता या किसी प्रकार इन्दिराजी स्वयं एक बार कह देती। कुछ आस मे, कुछ पशोपेश मे, कुछ आपाधापी मे, कुछ तीन में, कुछ तेरह मे —इधर रहें और हैं और कल भी बेचारे रहेंगे, भले यह पार्टी रहे या न रहे।

रेड्डी कांग्रेस या स्वर्ण सिंह काग्रेस या अर्स कांग्रेस ने राजनीति में जो-जो गुल खिलाए—वह भी कम काबिले तारीफ नहीं है। लोकसभा के एक वरिष्ठ सदस्य, जो लोकसभा के अध्यक्ष भी रह चुके हैं, ने अर्स-कांग्रेस में रहकर भी इन्दिराजी के लिए सदन मे प्रिविलेज मुक्ति का प्रस्ताव रखा तो दूसरी ओर श्री अब्दुल गफूर जैसे वरिष्ठ नेता जो एक प्रान्त के काग्रेस-अध्यक्ष थे उन्होंने कांग्रेस मुख्यालय और गाड़ी तथा अन्य सामग्रियों के दान-खाते के साथ कांग्रेस-आई को सम्मानित किया।

जनता भौंचक्की है। राजनीति से क्या नीति का विलोप हो गया। आज के दस-बीस साल पहले कोई कल्पना भी नही करता था कि रातों-रात कोई बड़ा चरित्र यानी विरोधी खेमे का नेता सत्ताधारी पक्ष में शामिल हो जाएगा या बिक जाएगा या अपनी तेजस्विता समाप्त कर देगा। न तो किसी ने यह अनुमान जे० पी० के सबध में लगाया, न लोहियाजी के बारे में, न आचार्य नरेन्द्रदेवजी के सबंध में, न पटवर्धन के बारे में। लेकिन आज न तो जनता को किसी पर विश्वास है और न ही किसी नेता को स्वय अपने आप पर। हर किसी के ऊपर कुरसी सवार है और खासकर ऐसे लोगो के ऊपर जो कभी कुरसियों पर विराज चुके हैं, उनके सामने उसका मोह लार टपका देता है।

श्री चौहान के महाभिनिष्क्रमण पर बहुत सारी टिप्पणियां तथा बयान देखने मे आए। लेकिन मैं यह मानता हूं कि एकमात्र चौहान ही ऐसे हैं जिन्होंने इस प्रश्न को राष्ट्रीय-डिबेट का मुद्दा बनाना चाहा तथा लगातार १५-२० दिनो तक कार्यकर्त्ताओ के बीच तथा जन-सभाओं मे अपनी बात निर्भयता से कहते रहे। अर्स-कांग्रेस के लोग चाहे, जितना भी कहने को कह लें, लेकिन चौहान के जाने से इस दल को जो भयानक झटका लगा है, वह बे-सभाल है। इस पार्टी की अस्मिता समाप्त हो गयी है और रही-सही इज्जत-प्रतिष्ठा भी चौहान के साथ ही विदा हो गयी है। लेकिन इस दल मे

बेहया लोगों की कमी नही है, जो आज भी यही मानकर चलते हैं कि हम ही राष्ट्रीय विकल्प है, हम ही अगले प्रधानमत्री हैं और हमारी मुट्ठी मे ही असली ताकत है। बड़ी से बड़ी बात हो जाती है, तब भी इसके अध्यक्ष बंगलोर से बाहर नही निकलते और अपने राज्य कर्नाटक में असेम्बली के उप-चुनाव मे खडा करने को उन्हें एक भी उम्मीदवार नही मिलता, लेकिन अमेठी मे कश्मीर-यायातित उम्मीदवार खड़ा कर मूंछों पर ताव देते हैं।

दरअसल मैं जिस दल मे हू उसमें कार्यकर्ता से अधिक नेता हैं और कोई भी नेता जब भूतपूर्व मंत्री, मुख्यमंत्री, संसद सदस्य और किसी जमाने का शीर्षस्थ व्यक्ति रहा हो तो उसकी पहचान ही कुछ और हो जाती है। उसकी नीद तब तक हराम रहती है जबतक उसके बारे मे दो-चार शब्द अखबारों में न आए। उसे फाइव-स्टार होटल और सर्किट हाउस से नीचे की जगह ठहरने के लिए मुफीद नही पड़ती। वह इस आशा मे गाड़ी से चिपका होता है कि कोई कार का दरवाजा खोले तब वह बाहर निकले। और उसकी बातचीत के लहजे में यह भाव सना होता है कि मैं बीता हुआ कल नही, आने वाला कल हू। लेकिन सच्चाई इससे कोसों दूर है।

किसी सयाने ने मुझसे एक दिन एक सवाल पूछा—आप क्यो इस दल मे रहे या हैं—मैंने सीधा-सा उत्तर दिया—भाई बात यह है कि मेरा जिन लोगों के साथ उठना-बैठना, मिलना-जुलना और बात-विचार था वे जब इधर रहे तो मैं भी उसी दोस्ती के साये में इधर रहा। अब एक-एक कर उनमें से सभी यहा से जाते रहे, फिर भी मैं यहा हू, क्योंकि मैं यह मानता हूं कि सब जो जाना था, वह गया, लेकिन चरित्र क्यों जाए। और दूसरी बात यह भी है कि ज्यों-ज्यों सभी जा रहे है, मैं ही सीनियर-मोस्ट यहा बच रहा हूं। हो सकता है कि एक दिन भगवान की कृपा से ऐसा भी आए जब मात्र मैं ही बच जाऊं और सभी कही न कही चले जाएं।

रह-रहकर मैं गर्व का अनुभव करता हू कि चलो कम-से-कम एक ऐसे दल का सदस्य हू, जिस दल का हर नेता एक-एक कर चलता बना, कार्यकर्ता जाते रहे, नेताओं मे जो बच-खुच गए उनमें भी कोई सहमति या बातचीत तक नहीं है, फिर भी दल है और मेरे स्वय के पाव इस दल-दल

मे इस कदर अन्दर धसे हैं कि उन्हें निकालना भी चाहता हूं तो पांव निकल नही पाता है और दल-दल मे और भी धसता चला जाता है। चलिए, और कुछ हो या न हो बेहयाई की बहुत बड़ी ट्रेनिंग यहां मिल रही है, संभव है कि आगे के दिनों मे यही काम आ जाए, क्योंकि और तो किसी काम के हम रहे नहीं, इसी कला मे निपुणता हासिल कर लें।

□

बस देखने वालों की नजर देख रहे है

कहीं की सुनी या कहीं की पढ़ी भूली-बिसरी यह पंक्ति सामने आकर खड़ी हो गयी है—हम तो बस देखने वालों की नजर देख रहे हैं।

क्या आपको कभी इस बात की अनुभूति हुई है कि नजरों मे कभी-कभी कितना फर्क आ जाता है। लड़ाने और मिलाने की बात छोड़ दें, नजरें चुराने वालो की ही तस्वीर ले लें, तो आपको आक्रोश भले आ जाए, लेकिन मजा भी कम नही आता है। नजर चुराने वाले भी किसी न किसी कोण से आपको देख रहे होते हैं और आप भी उसे लक्षित करते हैं, लेकिन बोलने और कहने की कोई गुंजायश नही रहती, बस मात्र एक सिहरन, वितृष्णा, किंचित् घृणा और इसीमें सब कुछ हो जाता है।

कहने वाले मुझे कहते हैं कि आप जैसा आदमी क्यों चला गया राजनीति में, आपको तो शुद्ध रूप से राजनीति से दूर साहित्य और संस्कृति मे रहना चाहिए था। मैं भी अपनी वृत्तियो को जानता हूं, लेकिन यदि राजनीति मे न होता, तो फिर कूप-मंडूक हो जाता। कहा यह मौका मिलता केवल साहित्य मे कि नजरों का भेद समझ सकूं, आदमी को परख सकूं, भांति-भांति के तमाशे देख सकूं, हंसी और रुदन का भेद निकाल सकूं तथा उन अनेक चेहरों को याद कर मन-ही-मन आनन्दित होऊं, जो ऊपर से खाल ओढ़कर शेर का अभिनय करने मे सिद्ध-हस्त हैं।

आदमी को कभी भी अन्दर मे सत्रास नही पालना चाहिए, इससे अपना जीवन भी बर्बाद होता है। देखे, खुलकर और कहीं यदि चोट लगे

तो उसे हंसकर टाल दे। पुरइन के पत्तों पर ओस की बूदें कहां थम पाती हैं।

मैंने सच मे जो कुछ भी सीखा है अपने जीवन से सबसे अधिक। रामगिरि पर्वत पर जैसे यक्ष का निवास था-काल-ग्रह में, वैसे ही छह साल तक दिल्ली मे रहा और इसने वैसी ही अनुभूतियां भरी, जैसी यक्ष को हुई होगी। उस दिन कम, अब अधिक ! अब ऐसे-ऐसे चेहरे सामने आकर खड़े हो जाते है, जिन्होने छह वर्षों की अवधि मे साठ बार मेरे घर को जरूर पवित्र किया होगा, पच्चास बार जूठन भी गिराया होगा, दस-पांच बार भेंट स्वरूप भी मुझसे कुछ ग्रहण किया होगा, कितना समय लिया होगा, इसका तो कोई लेखा-जोखा ही नही और उसके बाद आज लगता ही नही मानो कभी उनसे परिचय भी था। वे अपने आपमे जब मशगूल हैं, यदि सामने पड़ गए तो परेशानी में पड़ जाते है, क्या बोलें, क्या कहें और हकलाते हुए इतना ही बोल पाते हैं— अभी आप दिल्ली में है ?

सच में मजा आ जाता है, ऐसे क्षणों मे। हम दोनों एक-दूसरे को समझते होते है, कही कोई गफलत नही, एक-दूसरे से कहीं कोई मामला नही—क्योकि दोनों जानते हैं कि दुनिया ऐसे ही चलती है। फिर भी एक तिर्यक्-रेखा आंखों की कोरों मे झांक जाती है। मै क्या करूं, आदमी का स्वाभाविक स्वभाव जो ठहरा। हर चालाकी बासी भात के समान उबकाई लाने वाली हो जाती है।

बहुत से लोग जो जीवन भर राजनीति की और राजनीतिज्ञों की बखिया उधाड़ते रहेंगे, उन्हें सबसे ज्यादा राजनीतिज्ञो के चरण-चुम्बन में मैंने लगे देखा है और कभी-कभी तो भयानक वितृष्णा होती है कि कहा गया हो कुछ, हो रहा हो कुछ और कहे, किए और सुने का मर्म-भेद समझ पाना कठिन ही नहीं असंभव हो जाता है।

राजनीति का आदमी तो है ही उस कीचड़ मे, लेकिन उससे इतर रहने वाले, जो रोज उसके लिए विष-वमन करते है, फिर उसके ही क्रीत-दास हो जाएं तो फिर मर्यादा या निष्ठा कहां रही। खुली आखों आदमी देखना चाहे, तो वह बहुत कुछ देख सकता है—आम भी, इमली भी। नीम भी, करेला भी। भयानक अपूर्ण वेला है। वस्तुवादी वस्तुओं के मूल्य बढते जा

बस देखने वालों की नजर देख रहे हैं

कहीं की सुनी या कहीं की पढ़ी भूली-विसरी यह पंक्ति सामने आकर खड़ी हो गयी है—हम तो बस देखने वालों की नजर देख रहे है।

क्या आपको कभी इस बात की अनुभूति हुई है कि नजरों मे कभी-कभी कितना फर्क आ जाता है। लड़ाने और मिलाने की बात छोड़ दें, नजरें चुराने वालो की ही तस्वीर ले लें, तो आपको आक्रोश भले आ जाए, लेकिन मजा भी कम नही आता है। नजर चुराने वाले भी किसी न किसी कोण से आपको देख रहे होते हैं और आप भी उसे लक्षित करते हैं, लेकिन बोलने और कहने की कोई गुंजायश नहीं रहती, बस मात्र एक सिहरन, वितृष्णा, किंचित् घृणा और इसीमें सब कुछ हो जाता है।

कहने वाले मुझे कहते हैं कि आप जैसा आदमी क्यों चला गया राजनीति मे, आपको तो शुद्ध रूप से राजनीति से दूर साहित्य और संस्कृति मे रहना चाहिए था। मैं भी अपनी वृत्तियो को जानता हूं, लेकिन यदि राजनीति मे न होता, तो फिर कूप-मंडूक हो जाता। कहा यह मौका मिलता केवल साहित्य मे कि नजरों का भेद समझ सकू, आदमी को परख सकूं, भांति-भांति के तमाशे देख सकू, हंसी और रुदन का भेद निकाल सकू तथा उन अनेक चेहरों को याद कर मन-ही-मन आनन्दित होऊं, जो ऊपर से खाल ओढ़कर शेर का अभिनय करने मे सिद्ध-हस्त है।

आदमी को कभी भी अन्दर मे संत्रास नही पालना चाहिए, इससे अपना जीवन भी बर्बाद होता है। देखे, खुलकर और कही यदि चोट लगे

तो उसे हंसकर टाल दे। पुरइन के पत्तों पर ओस की बूंदें कहां थम पाती हैं।

मैंने सच मे जो कुछ भी सीखा है अपने जीवन से सबसे अधिक। रामगिरि पर्वत पर जैसे यक्ष का निवास था-काल-ग्रह मे, वैसे ही छह साल तक दिल्ली मे रहा और इसने वैसी ही अनुभूतिया भरी, जैसी यक्ष को हुई होगी। उस दिन कम, अब अधिक ! अब ऐसे-ऐसे चेहरे सामने आकर खड़े हो जाते हैं, जिन्होने छह वर्षों की अवधि में साठ बार मेरे घर को जरूर पवित्र किया होगा, पच्चास बार जूठन भी गिराया होगा, दस-पाच बार भेंट स्वरूप भी मुझसे कुछ ग्रहण किया होगा, कितना समय लिया होगा, इसका तो कोई लेखा-जोखा ही नही और उसके बाद आज लगता ही नही मानो कभी उनसे परिचय भी था। वे अपने आपमे जब मशगूल हैं, यदि सामने पड़ गए तो परेशानी में पड़ जाते हैं, क्या बोलें, क्या कहे और हकलाते हुए इतना ही बोल पाते हैं— अभी आप दिल्ली मे है ?

सच में मजा आ जाता है, ऐसे क्षणों मे। हम दोनों एक-दूसरे को समझते होते है, कही कोई गफलत नही, एक-दूसरे से कही कोई मामला नही—क्योकि दोनों जानते हैं कि दुनिया ऐसे ही चलती है। फिर भी एक तिर्यक्-रेखा आखों की कोरों मे झाक जाती है। मैं क्या करूं, आदमी का स्वाभाविक स्वभाव जो ठहरा। हर चालाकी बासी भात के समान उबकाई लाने वाली हो जाती है।

बहुत से लोग जो जीवन भर राजनीति की और राजनीतिज्ञो की बखिया उघाड़ते रहेंगे, उन्हें सबसे ज्यादा राजनीतिज्ञो के चरण-चुम्बन मे मैंने लगे देखा है और कभी-कभी तो भयानक वितृष्णा होती है कि कहा गया हो कुछ, हो रहा हो कुछ और कहे, किए और सुने का मर्म-भेद समझ पाना कठिन ही नही असंभव हो जाता है।

राजनीति का आदमी तो है ही उस कीचड़ मे, लेकिन उससे इतर रहने वाले, जो रोज उसके लिए विष-वमन करते हैं, फिर उसके ही क्रीत-दास हो जाए तो फिर मर्यादा या निष्ठा कहां रही। खुली आखों आदमी देखना चाहे, तो वह बहुत कुछ देख सकता है—आम भी, इमली भी। नीम भी, करेला भी। भयानक अपूर्ण वेला है। वस्तुवादी वस्तुओं के मूल्य बढते जा

रहे हैं और नैतिक मूल्यों के मूल्य घटते जा रहे हैं। इंसान ही साध्य है दोनों जगहों में, लेकिन मनुष्यता की राह संकरी होती जा रही है।

चरित्र—अब मात्र एक प्रश्नचिह्न है या किताबी शब्दबोध! कहे और किए की रेखा गंगा की विशाल बरसाती धारा। और इसी जगत में मैं रहता हूं या आप भी रहते हैं और हम दोनों यानी सबके सब इसके शिकार हैं या शिकारी! हर एक दूसरे को ही दोषी मानता है, अपने आपको गंगा के समान पवित्र। ऊंची कुरसी पर बैठा आदमी कसमसा रहा है, उसकी अकुलाहट बस एक ही है कहीं यह कुरसी छिन न जाए और अपदस्थ आदमी को भी वही चिन्ता कि कैसे वह कुरसी उसे फिर हासिल हो जाए। लेकिन जो बराबर के लिए कुर्सियां पा गए हैं, उनका क्या हाल है!

अपने आस-पास देखिए और सोचिए तो सही कि कहां क्या हो रहा है। देश में बागपत और भागलपुर जैसी घटनाएं घट जाती हैं, लेकिन अखबारों की चन्द सुर्खियों के अलावा लगता ही नहीं कि कहीं कुछ हुआ है। पुलिस के जवान दिन-दहाड़े निरीह लाशों पर अपनी जवानी की हवश उतारते हैं, लेकिन किसी को कंपन नहीं होता। पत्रकार की पत्नी को उसके सामने ही दस-बीस लोगों के लिए बिछौने के समान बिछना पड़ता है, लगता ही नहीं कि कोई अनहोनी घटना घट गयी। स्कूल के छोटे बच्चों को नंगे कर उनके चूतड़ों पर पुलिस की बेंत बहादुरी का प्रदर्शन करती है और लोग इस खबर को इस कान से सुनते हैं और दूसरे कान से बाहर कर देते हैं। दिन-दहाड़े किसी का बेटा किसी बाप या मां के सामने काट दिया जाता है या फिर किसी के घर में गुंडे दिन-दहाड़े घुसकर उसे लूटते भी हैं, कूटते भी हैं और फिर सामने ही बहू-बेटी की इज्जत के साथ खिलवाड़ भी करते हैं, लेकिन जमाने को लगता है कि कोई दर्द ही नहीं है। ऐसे कर्मठ बेहया युग से हम गुजर रहे हैं, जहां आदमी जरूर है, लेकिन उसका पानी चुक गया है।

जवाबदेही कौन ले। इतिहास या भूगोल या शासन या जनमत? हर एक दूसरे को अधिक से अधिक लानत-मलामत में लगे हैं। शासन का कहना है कि नागरिक दोष के हकदार, नागरिकों का कहना है कि शासन क्या कर रहा है। विचित्र खींचातानी है। सत्ता की मार-धाड़ में व्यवस्था

का कचूमर निकल गया है। शासन कभी मर्यादा और सुव्यवस्था का प्रतीक माना जाता था और आज शुद्ध रूप से उसका अर्थ कमाओ-खाओ-बनाओ होता जा रहा है। बड़े से बड़े लोकतंत्रीय मच के प्रति लोगों में अब आस्था नहीं रह गयी और न तो बड़े से बड़े पद पर बैठे व्यक्ति के लिए कहीं कोई सम्मान-भाव! कलियुग की व्याख्या में ऐसे समय का वर्णन आता है, लेकिन बौद्धिक वर्ग न तो कलियुग मानता है और न ही सतयुग! उसके लिए वर्तमान ही सब कुछ है और यह वर्तमान कच्चे मास के लोथड़ो की सौदागिरी में लगा है।

गाधी नाम के एक व्यक्ति ने कभी कहा था कि सत्ता से अलग व्यवस्था को मजबूत बनाओ और उनकी बात को ही किसी समय जयप्रकाश ने कहा था कि लोकशक्ति को जागृत करो। लेकिन यहा व्यवस्था और लोकशक्ति दोनो को धत्ता बताया जाता है, हर दिन।

शुरुआत कुछ दूसरे ढंग से हुई थी और फस गया मैं किसी और पचड़े में। लेकिन शायद सबका सब संदर्भ ही है। सोचने की सीमा बढ़ता तो होती नहीं। हमारा मात्र उद्देश्य यह था कि यह कहूं कि आज जो कुछ भी घट रहा है, हो रहा है उसे खुली नजरों से देखता हूं और उन नजरो को भी देख लेता हूं जो देखने का व्यर्थ प्रयास करते हैं। भागलपुर के विचाराधीन बदियों को अधा बनाया गया तो एक तूफान खड़ा हो गया, लेकिन यहां हर व्यक्ति आखों को लिए और उस पर दो आखें ऊपर से चढ़ाये भी वही है, जो भागलपुर के विचाराधीन कैदी अब हुए। किसे क्या दिखायी दे रहा है और इससे तो वे अच्छे जो देखने का नाटक नहीं कर रहे हैं और सदा के लिए देखने की पीड़ा से अपने आपको वंचित कर चुके हैं।

□

इन्हें शर्म भी नहीं आती

शर्म को भी शर्म आती है, लेकिन इन्हे शर्म नही आती। पटना से दिल्ली की राह मे कानपुर मे सवेरा हुआ और आदतन डिब्बे से नीचे उतरा, पहले पत्र-पत्रिकाए ली, तब चाय-पान। वापस डिब्बे मे आकर बिस्तर पर 'आज', 'धर्मयुग', 'श्रीवर्षा', 'नवनीत' और 'रविवार' रखकर बाथ गया, वापस आया सभी पत्र-पत्रिकाए सह-यात्रियो की शोभा बढ़ा रही थी।

ऐसी परिस्थिति में मेरा दिल जलने लगता है कि हर यात्री सौ-पच्चास का टिकट खरीद कर यात्रा कर सकता है, टी० टी०को दस-बीस रुपये देकर जगह ले सकता है, पूरी यात्रा मे पांच-सात-दस के सिगरेट पान चाय उड़ा सकता है, लेकिन रुपया-दो-रुपया खर्च कर एक पत्रिका नही खरीद सकता। और डिब्बे मे यदि किसी वेचारे ने यह अपराध कर दिया कि कोई पत्रिका उसने खरीद ली तो जब तक पहला पन्ना उलट भी न पाएगा कि तब तक चील और बाज के समान कोई बेशर्म झपट्टा मारने से वाज नही आयेगा—भाई साहब, जरा मैं देख लू।—और फिर पूरी यात्रा आप उनका मुंह देखते रहें, और वे चाय की चुस्की और सिगरेट की कश के साथ आपकी पत्रिका का कचूमर निकालते रहेंगे।

लेकिन आज की परिस्थिति इन सबो से भिन्न और विषम है। किसी ने मुझसे पूछा या मागा नही और सब हकदार बन गए, मानो इनके पिताजी ने वसीयत मे ये पत्रिकाएं रख छोड़ी हों या फिर ससुराल के दहेज मे ये

मिली हों कि जैसे चाहो इन्हें उलटो-पलटो।

एक सज्जन ने मेरे 'धर्मयुग' पर अपनी मट्ठी और मिठाई निकाल कर सपरिवार नाश्ता शुरू कर दिया है मानो यह कोई तस्तरी हो। दूसरे भाई 'रविवार' से बच्चे को बहला रहे है मानो यह कोई झुनझुना हो, तीसरे भाई साहब 'आज' पर इतने खफा हैं कि मूंगफली के छिलकों का डस्टबिन बना लिया है, 'श्रीवर्षा' की भी खैर नहीं—वह जिन देवीजी के हाथ मे है उसे कभी वह खोलती है और कभी नमक की पुड़िया के समान मरोड़कर रह-रहकर मसलती हैं।

और इधर मैं यह अभिनव दृश्य देखता हुआ लिख रहा हूं। मन में रह-रहकर आता है कि इन्हीं की तरह असभ्य होकर इन्हें इनके बाप-दादों की याद दिला दूं और सबों के हाथ से पत्रिकाए छीन लू— कलाइयों को मरोड़ता हुआ। लेकिन अपने आपको जब्त करता हूं।

डिब्बे में इतना ही अत्याचार होता तो कोई बात नही थी, यहा तो सीधा बलात्कार हो रहा है। लेकिन हर कोई मौन-दर्शक बना हुआ है।

एक देवीजी सीट के पास ही अपनी गुड़िया को टट्टी करा रही है, दूसरे भाई साहब ने मूगफली के छिलकों का पहाड़ खडा कर दिया है। तीसरी बहू रानी रह-रहकर पास बैठे मर्द (भगवान करें वह उनके पतिदेव ही हो) की उगलियों से रीझ रही हैं तथा बाकी नजरों से छेद रही है।

सच में रेल का डिब्बा सिनेमा, थियेटर और सर्कस का मिला-जुला रूप होता है और हर यात्री जोकर, जिसकी यातना को कोई नही समझे, उसके अभिनय पर सब हस दें।

मुझसे अब असह्य हो रहा है। अब मैं भी बेहया बन रहा हूं। लिखना छोड़ रहा हूं। भाइयो से अनुनय कर रहा हूं—कृपया ये पत्रिकाए देंगे? —उधर भाई लोग ऐसे अनजान बन रहे हैं, मानो मैं उनसे कुछ उधार मांग रहा हूं। अब मेरे लिए स्थिति असहनीय हो जाती है—इतने पैसे खर्च कर जब आप सभी यात्रा कर सकते हैं, तो फिर दो-चार रुपये की पत्र-पत्रिकाए नही खरीद सकते?

इस बात पर सेठ से लगने वाले एक तुन्देल भाई साहब ताज्जुब मे पड़

जाते हैं, भला मैगजिन भी क्या खरीद कर पढ़ने की चीज है, वे कहते हैं—जरा उलट-पलट लिया तो क्या इससे पत्रिका घिस गयी ?

मैंने तब तक अपनी सभी पत्रिकाएं समेटी और मूर्खों से कौन बात बढ़ाए, सोचता हुआ उनमें खो गया।

□

एक अपहरित यात्री से हसबमामूल बातचीत

बीस दिसम्बर, १६७८ की रात में आकाशवाणी के समाचार बुलेटिन से इस आशय का समाचार हर सुनने वाले ने सुना होगा—दो सशस्त्र व्यक्तियों ने आज कलकत्ता से दिल्ली जा रहे इंडियन एयर लाइन्स के एक विमान का अपहरण कर लिया और उसे वाराणसी हवाई अड्डे पर जबरन उतार लिया। विमान पर सवार १२६ यात्रियों तथा चालक दल के छः सदस्यों को बधक बना लिया गया है। अपहरणकर्त्ताओं ने श्रीमती इन्दिरा गांधी की बिना शर्त रिहाई की मांग की है।

यह समाचार सुनते ही मुझे खट-सा लगा, कारण शाम को पटना हवाई अड्डे पर उस जहाज पर अपने मित्र श्री धर्मवीर सिन्हा को मैं चढ़ाकर आया था और उनका नाम वेटिंग लिस्ट में था, उसे ओ० के० कराने का काम भी मैंने ही किया था। यदि यह जानता कि यह घटना घटने वाली है तो न उनका टिकट ओ० के० कराता और न ही 'सी-आफ' करता।

दो दिनों बाद जब श्री धर्मवीर सिन्हा से मेरी मुलाकात हुई तो स्वाभाविक था कि अपहरण की पूरी कहानी उन्होने सुनायी जो कम रोचक नहीं है। जहाज कहां से चला, कहा उतरा, उसे अपहरण करने वाले कौन थे, उनकी मशा क्या थी इन सारी बातों से हर अखबार पढ़ने वाला परिचित है, लेकिन जहाज के अन्दर कैसे क्या हुआ ये दिलचस्प बातें मनोरजन के साथ-साथ रोगटे भी खड़ी कर देती है।

वर्णन धर्मवीर सिन्हा का, शब्द मेरे और पढ़ने वाली आंखें आपकी।

मैंने पूछा—धर्मवीरजी कैसे आप लोगों को पता चला कि जहाज का अपहरण हो गया है तथा उसके पहले कैसे क्या हुआ?

—मैं उस समय नाश्ता कर रहा था। नीचे मुंह करके मुंह मे सैंडविच डाल रहा था कि मेरी बगल के यात्री डा० ए० के० एन० सिन्हा ने मुझे सामने की ओर इशारा किया, जहा हमने देखा कि दो व्यक्ति खड़े जोर-जोर से 'काकपीट' को पीट रहे हैं, लेकिन दरवाजा खुल नहीं रहा है। माजरा क्या है, यह हमारी समझ मे नही आ रहा था कि तभी उस ओर से एक 'एयर होस्टेस' घबड़ाती हुई दौड़ी-दौडी पीछे की ओर यह कहती हुई भागी—'दे आर आर्म्ड' (वे सशस्त्र है)।

कि तभी 'काकपीट' का दरवाजा भी खुल गया और दोनों युवक अदर घुस गए। हम सबों को तब तक पता नही चल पा रहा था कि यह क्या हो रहा है—कि तभी काकपीट के अन्दर से कैप्टन की आवाज जहाज में गूंजी—लेडीज एण्ड जेंटलमैन, हमारे जहाज का अपहरण हो गया है। हम अब पटना या वाराणसी की ओर मुड रहे है। आप कृपया शान्तिपूर्वक बैठे रहे।

—आपको इस घडी कैसा लगा, सच-सच बताइयेगा?—मैंने पूछा।

—ईमानदारी की बात यह है कि यह सुनते ही हममे से हर कोई सन्न रह गया। आगे क्या होने वाला, ये अपहरणकर्त्ता कौन है, ये क्या चाहते है, इनके पास क्या है—यह कोई नही जानता था। हर किसी के सामने उसके प्राण का मोह था। —धर्मवीर बोले—लेकिन काकपीट में प्रवेश करने के पहले उन लोगो ने यात्रियो की ओर एक साइक्लोस्टाइल पर्चा फेका, जिसमे उनकी चार मागें थी—

(क) बिना शर्त इन्दिरा गाधी की अविलम्ब रिहाई।

(ख) इन्दिरा गाधी एव सजय गांधी के ऊपर जितने भी मुकदमे हैं उनकी वापसी।

(ग) जनता सरकार स्तीफा दे।

(घ) इन्दिरा गाधी को जेल की जगह उनके घर पर लाकर रखा जाए।

जब यह पर्चा अन्य यात्रियों के हाथों होता हुआ मेरे पास पहुचा तब मैं आश्वस्त हो गया कि अब जान तो बच ही जाएगी। बहुत होगा तो ये इन्दिरा गांधी से अपील करवाकर छोडेंगे।

उसके बाद ?—मैंने जानना चाहा।

—धर्मवीर जी ने कहना शुरू किया—हमारा जहाज दिल्ली पहुचते-पहुचते मुड़ गया। अपहरणकर्त्ताओं की माग हुई कि पटना ले चलो। पायलेट ने कहा कि वहां रात की लैंडिंग नही है, तब उन्होंने कहा कि काठमाडू ले चलो। पायलेट ने वहां के सबंध मे भी वही बातें कही। तब उन्होंने कहा—बंगला देश ले चलो। पायलेट ने कहा कि उतना तेल जहाज मे नही है। तब उन्होंने पूछा—कहा उतार सकता है ? पायलेट ने कहा—बनारस। —तो चलो वही उतारो।

दरअसल अपहरणकर्त्ताओ की मंशा यह थी कि पटना पहुचकर जे० पी० को प्लेन पर बुलाकर बात करें और उनसे कहे कि इन्दिरा गाधी को वे मुक्त करवाए। और यदि उनसे बात नही बन सके तो जे० पी० को लेकर नागपुर चलें और वहा विनोबा जी को बुलाकर उनसे बातचीत की जाए।

—अब यह बताइये कि प्लेन जब बनारस के लिए मुड़ा तब की स्थिति क्या थी ? —मैंने जानना चाहा।

—दस-बीस मिनटो तक तो भयानक भय का वातावरण था, लेकिन धीरे-धीरे वह समाप्त होने लगा। अपहरणकर्त्ताओ मे एक बराबर अन्दर काकपीट मे पायलेट के पास रहता था और दूसरा बाहर गेट पर या फिर बीच मे टहलता रहता था। बनारस जब पास आने को हुआ तो उनमें से एक पांडे सामने खडा हो गया और उसने अपना भाषण शुरू कर दिया—भाइयो और बहनो ! आपको जो भी परेशानी या असुविधा हुई है उसके लिए हम माफी मागते हैं, लेकिन आप डरें नही, किसी को कुछ भी नुकसान नही होगा। हमारा एक ही उद्देश्य है—श्रीमती इन्दिरा गांधी को छुड़ाना।

इस समय पीछे से जोरो से कोई चिल्लाया—नेताजी, यहा तक आवाज नही आ रही है, जरा जोर से बोलिए।

जब वे जोर से बोलने लगे तो किसी ने कहा कि माइक ले लीजिए।

एयर होस्टेस ने उन्हे अपना माइक थमा दिया और वे उसी पर दस-पन्द्रह मिनटों तक धुआंधार भाषण दे गए कि वर्तमान निकम्मी सरकार को उलटना है और इन्दिरा गाधी जिन्होने देश के लिए इतना कुछ किया उन्हे जेल भेजा जाना बर्बरता और तानाशाही है।

भाषण के दौरान यात्रियों ने तालियां बजायीं और कई यात्रियों ने अपहरणकर्त्ताओं को खुश करने के लिए उठकर कहा कि हमलोग सभी आपके साथ हैं। वाराणसी के बाबतपुर हवाई अड्डे पर उतरने के पहले की स्थिति थी। हवाई अड्डे पर जब जहाज उतर गया तब जान मे जान आयी कि चलो अब कोई न कोई रास्ता जरूर निकलेगा। कही काठमांडू या ढाका में होते तो हमारी परेशानी बहुत ज्यादा बढ जाती।

—यह बताइए कि बनारस पहुचने पर क्या हुआ? —मैंने जानना चाहा।

धर्मवीरजी ने कहना शुरू किया—वहां अपहरणकर्त्ताओ ने यह माग रखी कि उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री श्री रामनरेश यादव को बुलाओ, उनके माध्यम से ही बातचीत होगी। लखनऊ खबर चली गयी, तब तक वाराणसी के जिलाधीश हवाई अड्डे पर आ गए तथा कट्रोल टावर से उनकी बातचीत शुरू हुई। हम लोगों को तब तक यह भी सूचना मिल गयी कि उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री आ रहे है।

दो-तीन घटों के इस हेराफेरी के बाद हम लोग कुछ आश्वस्त से हो गए थे और हवाई जहाज में ही इधर-से उधर चहल-कदमी करने लगे थे। अपहरणकर्त्ताओं को यह बात अच्छी नही लगी और उन्होंने काकपीट के अन्दर जाकर पायलेट से इसकी शिकायत की और पायलेट ने इसके लिए हम लोगों को सावधान किया कि सभी यात्री अपनी-अपनी सीटों पर बैठ जाए और स्थिति की गभीरता को समझें।

अपहरणकर्त्ता बड़े होशियार थे, जब उन्हे यात्रियो को कुछ कहना होता था या डाटना, तो यह काम खुद नही करके पायलेट से करवाते थे।

अब मैं सोचता हू कि वे किसी को आसपास इसलिए मंडराने देना नहीं चाहते थे क्योकि उन्हे डर था कि उनकी कलई खुल जाएगी।

—यह बताइए कि अपहरणकर्त्ता दो थे और आप लोग सवा सौ, तब

क्या आप मे से किसी के मन में यह बात नही आयी कि इनके साथ बल का प्रयोग किया जाए और इन्हें वश मे करें ?—मैंने पूछा।

धर्मवीरजी मुस्कराते हुए बोले—वह स्थिति बड़ी विचित्र होती है। लेकिन जहाज मे एक रिटायर्ड मिलिट्री के मेजर थे, वे खड़े हो गए और उन्होंने कहा कि आप लोग मेरे पीछे-पीछे चलें, मैं उनसे भिड़ता हू। लेकिन अन्य यात्रियों ने ही उन्हें मना कर दिया कि कही हम लोग आफत मे न पड़ जाएं। वहा तो बराबर यह भय बना हुआ था कि एक गोली या हथगोले से पूरा जहाज उड़ सकता है, आग लग सकती है।

—यह बताइए कि एक यात्री श्री मोदी कैसे भाग निकले ? मैंने पूछा।

— वह बड़ी चालाकी से इमरजेन्सी गेट से पलायन करने में सफल हो गए। लेकिन बाहर सुरक्षा कर्मचारियों ने उन्हे भी रोक लिया कि कही ये भी अपहरण में तो शामिल नही हैं। धर्मवीरजी ने कहा—पशोपेश की स्थिति उस समय कायम हो गयी थी। जब रामनरेश यादव तथा अपहरण-कर्त्ताओं के बीच बातचीत मे गतिरोध पैदा हो गयी। यह करीब ३ बजे रात की बात है। बाद मे हमें किसी ने यह भी सूचना दी कि मुख्यमंत्रीजी सो रहे हैं। अतिम बातचीत ५-६ बजे भोर मे हुई, लेकिन उसका भी कोई निश्चित प्रतिफल नही निकला। दूसरी ओर हम सबो का बुरा हाल था। विशेषतौर से महिलाएं एवं बच्चे १२ घंटो की इस यातना से ऊब चुके थे। खाना नही, पानी नही, संडास भर गया था, आदमी पेशाब भी नहीं कर सकता था। लगने लगा कि इससे तो ज्यादा अच्छा है कि जान हो चली जाए।

ज्यों-ज्यों सवेरा होने को आ रहा था, त्यों-त्यों हमारा भी धैर्य टूट रहा था तथा मेरी समझ मे अपहरणकर्त्ताओं को भी यह लग रहा था कि यह नाटक सूर्योदय के पहले ही समाप्त हो जाए, नही तो उनके हथगोले और पिस्तौल का रहस्य भी खुल जाएगा।

छः-साढे छः बजे के लगभग हम यात्रियो ने यह तय किया कि कुछ लोग आगे वाले इस भाति खड़े हो जाएं कि अपहरणकर्त्ताओं को पीछे का हिस्सा ठीक से दिखाई न दे और पीछे का दरवाजा खोलकर जितने लोग निकल सकते हों, निकल जाएं।

यही योजना कार्यान्वित की गयी। पच्चीस-तीस लोग आगे खड़े हो गए, पीछे की सीढ़ी गिरायी गयी और एक-एक कर यात्री खिसकने लगे। अपहरणकर्त्ताओं ने ५०-६० यात्रियों के जाने के बाद यह समझ लिया और उसके बाद शेष यात्रियों को भी जाने दिया।

—आप कब उतरे? पहले या बाद में?

—मैं ८०-८५ लोगों के बाद उतरा।

—अच्छा धर्मवीरजी, कुछ रोचक बातें और बताइए। आपको उस अपहरण काल में कैसा लगा, यात्रियों का हाल तथा अन्य बातें जो उस दौरान दिमाग में आती रही? —मैंने जानना चाहा।

—शुरू मे तो काफी मानसिक तनाव था एवं घबराहट थी, जैसा मैं कह चुका हू, लेकिन धीरे-धीरे वह समाप्त होने लगा और बनारस हवाई अड्डे पर एकाध घंटे बाद हम यह महसूस करने लगे कि हमारी जान खतरे मे नही है। मेरे बगल में सुप्रसिद्ध चिकित्सक डा० ए० के० एन० सिन्हा और श्री कोवर थे। मुझे और डाक्टर साहब को सिगरेट पीने की आदत थी लेकिन वहा ज्यादा सिगरेट नही पीने की हिदायत थी, कारण 'सफोकेशन' पैदा होने का डर था।

मैंने उस दौरान दो-तीन बाते अनुभव की—एक तो यह कि ऐसे समय में एक-दो अच्छे साथी रहे तो समय हसते-बोलते कट जाता है, दूसरा यह कि पानी की जरूरत बहुत महसूस होती है और तीसरी बात यह है कि शरीर पर हल्का कपडा रहना चाहिए। मैं तो खादी का ऊनी सूट पहने हुए था, इसलिए और भी परेशान हो गया। वैसे अपहरण का रोमाचक और रोचक अनुभव इस यात्रा में जरूर हो गया। यहा तो १२ घंटों मे ही यह हाल था, जहा-तहा दो-दो, तीन-तीन दिनो तक जहाज अपहरण मे रहता है, उन बेचारे यात्रियो का हाल क्या होता होगा। —धर्मवीर सिन्हा बोले।

—कोई वी० आई० पी० भी थे कि नही? —मैंने जानना चाहा।

—यो तो जहाज का हर यात्री ही वी० आई० पी० होता है, लेकिन जिस आशय मे आप पूछ रहे है उसमे बिहार के एक मंत्री श्री पूरनचन्द जरूर थे। वे तीसरी पंक्ति मे बैठे थे और मैं मार्क कर रहा था कि वे सबसे

अधिक सहमे और दुबके हुए से बैठे थे। उन्हें यह भी शक हो रहा होगा कि जनता सरकार का मैं मंत्री हू और ये इन्दिरा गांधी के समर्थक कही मेरी हुलिया जानकर मुझे ही न बंदी बना लें। हम लोग भी उनके कारण सकट मे पड सकते थे।

—अच्छा धर्मवीर भाई, यह बताइए कि जिस उद्देश्य से अपहरण का यह नाटक रचा गया था, उस सबंध मे यात्रियों की प्रतिक्रिया क्या थी? —मेरा प्रश्न था।

धर्मवीरजी ने स्पष्ट जवाब दिया—अपहरण का तरीका किसी भी रूप में जायज नही कहा जा सकता। यह टेरोरिस्ट तरीका है, जो अरब या फिलिस्तीनी सघर्ष तक ही सीमित था। भारत मे जिन लोगो के लिए और जिन तत्वों द्वारा यह किया गया वह स्पष्ट है। हर यात्री ने इसकी भर्त्सना की। मैं तो एक राजनीतिक व्यक्ति हू, अत: मै कल्पना भी नही कर सकता था कि कोई भारतीय राजनीतिक इतने घिनौने स्तर तक जा सकता है, खासकर हम सबों को इसकी भर्त्सना करनी चाहिए, जो महात्मा गांधी को अपना आदर्श मानते हैं और उनके बताए रास्ते पर चलने का दावा करते है।

जेल से छूटने के बाद श्रीमती इन्दिरा गाधी ने इस अपहरण काण्ड को नाजायज नही बताया है और यह दलील पेश की है कि अपहरणकर्त्ताओ को दडित नही करना चाहिए, क्योकि उन्होने किसी को नुकसान नही पंहुचाया।

समाचार पत्रों द्वारा यह स्पष्ट है कि दोनो अपहरणकर्त्ता सर्व श्री देवेन्द्र नाथ पाडेय और भोलानाथ पाडेय, न केवल इन्दिरा कांग्रेस के सक्रिय सदस्य है, बल्कि श्री संजय गाधी, श्रीमती मोहसिना किदवई और श्री मायापति त्रिपाठी के बहुत घनिष्ट है।

पता नही भारत की राजनीति में यह अपहरण कांड 'टेरोरिस्ट' पद्धति का शुरुआत है या अत?

☐

राजनीतिक उखाड़-पछाड़ और महिला राजनीतिज्ञ

कई मामलों में सौ पुरुषों की अपेक्षा एक स्त्री कहीं अधिक कुशाग्र-बुद्धि होती है। —गोट होल्ड लेसिंग

एक स्त्री हजार पुरुषों से अधिक शक्तिशाली होती है। —वोन्डेल

डाकू सिर्फ आपकी दौलत चाहते है या आपकी जान, स्त्रियां दोनों चीजें चाहती हैं। —सेम्युअल बटलर

स्त्री यह कभी नहीं देखती है कि आप उसके लिए क्या कुछ करते हैं, वह तो सिर्फ यह देखती है कि आप उसके लिए क्या कुछ नहीं कर रहे है। —जार्जेश कोर्तेलीन

एक मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से तीस वर्षों तक स्त्री की आत्मा मे झाकने पर भी मैं अभी तक जिस प्रश्न का उत्तर नहीं खोज पाया हूं और अन्य कोई व्यक्ति भी जिसका उत्तर नहीं दे पाया है, वह प्रश्न है स्त्री चाहती क्या है? —सिग्मंड फ्रायड

उपरोक्त सूत्रों को देने का एक ही उद्देश्य है कि आगे जो भी मैं कहने

जा रहा हूं, उसकी पूर्व पीठिका।

भारत मे महिलाए प्रारभ से ही बन्दनीय रही है। सीता, सावित्री, कुन्ती, गार्गी, शकुन्तला आदि की बातें छोड़ दें, कारण ये सब इतिहास की न होकर पुराण की पात्र हैं, लेकिन इतिहास को जिन भारतीय नारियों ने गौरव प्रदान किया उनमे रजिया सुल्ताना से लेकर नूरजहां तक और झांसी की रानी लक्ष्मीबाई से लेकर माता कस्तूरबा तक अनेक ऐसी पीढ़ियां हैं, जिन पर हमे गौरव है। लेकिन जिन बातों की चर्चा हम यहा करने जा रहे हैं, वह कुछ भिन्न है उन देवियो से और इसका सीधा संबंध है स्वातंत्र्य पूर्व और पश्चात् की उन महिला विभूतियों से जिन्होंने अपने व्यक्तित्व, चरित्र, दृढ़ता, ओजस्विता, वलिदान, तेज, साहस और महत्त्वाकांक्षा के कारण आधुनिक काल में जहां एक ओर बहुरंगी चर्चाओ का अम्बार खड़ा किया, वही राजनीति के मोहरे बनाने में भी वे किसी से कम नही रहीं।

और इस कसौटी में आधुनिक भारतीय महिलाओं ने विश्व के सामने कई प्रतिमान खड़े किए। इस कोटि की भारतीय महिलाओं में श्रीमती सरोजिनी नायडू से लेकर श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित तक, सुचेता-कृपलानी से लेकर श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा तक और श्रीमती इन्दिरा गांधी से लेकर अम्बिका सोनी तथा मेनका गांधी तक एक ऐसी दीर्घ परम्परा हमारे सामने आती है, जो राजनीति के इतिहास को झकझोर कर रख देती है। विशेष तौर से भारत की प्रथम प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के सशक्तता और व्यक्तित्व की गर्मी ऐसी रही, जिसने भारतीय महिला के उस रूप को भी उजागर किया, जो सर्वथा अपरिचित-सा था। और उसका ही परिणाम था आपातकाल की घोषणा, हजारों लोगों को जेलों मे भेजना तथा सत्ता की लड़ाई में अलग किस्म की रणनीति जिसने एक बार पूरे विश्व को सोचने के लिए मजबूर किया।

गांधी युग के पहले जो महिलाए भारतीय इतिहास को सुशोभित करती रहीं, उनमे राजनीतिक रूप से न के बराबर। गांधीजी के प्रादुर्भाव के साथ-साथ एक नई चेतना जगी और जिस वर्ष गांधीजी ने चम्पारन में अपने सत्याग्रह आन्दोलन की शुरुआत नीलहा के खिलाफ की, उसी साल १९१७ में कलकत्ता-कांग्रेस की अध्यक्षता पहली बार एक महिला ने की,

लेकिन वह भारतीय महिला नही थी। मेरा आशय है—डा० एनी बेसेन्ट से। लेकिन भारतीय नारी जागरण का एक नया मंडल प्रभात वहां से अवश्य शुरू हुआ, जिसकी परिणति हुई १९२५ मे, जब कानपुर-कांग्रेस की अध्यक्षा श्रीमती सरोजिनी नायडू चुनी गईं। भारतीय राजनीति में पहली बार महिला स्वर किसी भी पुरुष-स्वर से ऊंचे रूप मे उभरा और उसके बाद तो फिर तांता लग गया महिलाओं का राजनीति के रण-क्षेत्र मे प्रवेश करने का।

यह स्वीकारना होगा कि महात्मा गाधी ने भारतीय राजनीति या सामाजिक परिवेश में महिलाओं को आगे आने का काफी मौका दिया। मीरा बेन के समान विदेशी महिला से लेकर राजकुमारी अमृतकौर के समान राजघराने की महिलाओं को भी उन्होने आगे आने के लिए प्रोत्साहित किया तथा अवसर प्रदान किया। यो उस जमाने में कमला नेहरू के समान भी शात-स्निग्ध महिलाए थी, जिन्होने कभी भी राजनीति मे दखल देने की कोशिश नही की, लेकिन वही दूसरी ओर नेहरू-परिवार की अन्य नारियां किसी भी तरह पुरुषो से पीछे नही रही, इस उखाड-पछाड़ मे चाहे वह श्रीमती विजयालक्ष्मी पडित हों, उनकी सुपुत्रिया हों, नेहरूजी की अन्य बहनें हो या श्रीमती इन्दिरा गाधी हो।

भारतीय महिलाओं ने जो कीर्तिमान इतिहास मे स्थापित किए उनकी चर्चा यहा समीचीन होगी। जहा एक ओर श्रीमती सरोजिनी नायडू भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रथम महिला अध्यक्षा हुई, वही दूसरी ओर उन्हें ही यह गौरव भी प्राप्त हुआ कि इस देश की प्रथम महिला गवर्नर के पद को उन्होने सुशोभित किया। वैसे उनका मुखर व्यक्तित्व राजनीति से कही ऊंचा साहित्य में था और इसीलिए एक महान कवियित्री अथवा भारत-कोकिला के रूप मे वह सदा स्मरण की जाती हैं।

श्रीमती विजयालक्ष्मी पडित का चरित्र प्रारभ से ही विवादों के बीच चर्चा का विषय बना रहा। उनकी शादी को लेकर जो विवाद उठा था, उसने एक समय राष्ट्रव्यापी वाद-विवाद का रूप ग्रहण किया था, जिसकी परिणति अत मे गाधीजी के हस्तक्षेप के बाद हुई। और तब से आज तक विजयालक्ष्मी पडित भारतीय राजनीति की एक शिखा-बिन्दु बनी रहीं।

उन्होंने भारत में १९३७ मे सयुक्त सरकार के मंत्रिमंडल मे प्रवेश किया और इस प्रकार वह प्रथम महिला मंत्री हुई और उसके बाद जब देश स्वतंत्र हुआ तो १९४७ मे वह सोवियत संघ मे भारत की प्रथम राजदूत बनाकर भेजी गई। और इस पद पर वह भारत की ही सर्वप्रथम महिला राजदूत हो नही थी, बल्कि विश्व की प्रथम महिला राजदूत बनने का गौरव उन्हे ही प्राप्त हुआ। उसके बाद तो वह अमेरिका और इग्लैंड मे भी भारतीय राजदूत रही। १९५३ मे भारतीय प्रतिनिधि के रूप में श्रीमती पडित जब सयुक्त राष्ट्र सघ में गयी तो उनका आकर्षण, व्यवहार और सुतीक्ष्णता ऐसी थी कि उन्हें सयुक्त राष्ट्र महासभा की अध्यक्षा चुन लिया गया और उन्होंने इस पर विश्व की प्रथम महिला अध्यक्षा होने का गौरव हासिल किया। उसके बाद लोक सभा की सदस्या से लेकर राज्यपाल के पद पर वह वर्षों बनी रहीं और जब तक पडित जवाहरलाल नेहरू प्रधानमंत्री थे उन्होने अपनी चहेती बहन को कहीं न कही विशेष पद पर ही रखा और जहां कही भी वह रहीं विशिष्ट बनकर ही रही, क्योकि वह केवल विजयालक्ष्मी पडित मात्र नही थी, बल्कि मोतीलालजी की बेटी और जवाहरलाल की बहन भी थीं। और अंत मे सन् १९७७ का वह दिन भी आया, जब उन्हे अपनी ही भतीजी श्रीमती इन्दिरा गाधी के विरुद्ध लोकतंत्र का झंडा उठाना पड़ा और हर जगह उन्होंने जयप्रकाश-आन्दोलन मे घी की आहुति दी और जहा कहीं भी गयी लाखों की भीड़ उमड पडी उन्हें देखने और सुनने और जनता को यह विश्वास हुआ कि और लोग जो भी कहे वह राजनीति हो सकती है, लेकिन बुआ जो भी भतीजी के बारे मे कहेंगी, वह केवल राजनीति नहीं वरन् एक सच्चाई होगी। और श्रीमती इन्दिरा गाधी को पदच्युत करने के लोकतंत्रीय आन्दोलन में विजयालक्ष्मी पडित ने जीवन के अपने इस काल मे बहुत बड़ी भूमिका अदा की। नेहरू-परिवार लोकमानस मे पहली बार बटा और मुझे पजाब के एक बड़े नेता ने १९७७ के लोक-सभा चुनावों के बाद ठीक ही कहा था—काग्रेस की हार जिन कारणों से हुई, उनमें एक बड़ा कारण श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित का आवाहन भी था। हमारे यहां की जनता ने कहा कि बेटी की बातें तो बहुत बार हमने मान ली, एक बार बहन की बात भी मान लें और उन्होंने जनता पार्टी को

विजयी बनाया।

श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित की सक्रियता इस बात को भी द्योतित करती थी कि तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाधी जब अपने परिवार के साथ ठीक से सलूक नही कर सकती हैं या अपने परिवार का ही विश्वास लेकर नही चल सकती हैं, तो फिर पूरे देश का विश्वास कैसे प्राप्त कर सकती हैं। इन्दिरा-विरोधी खेमे की सबसे बड़ी विजय यही थी कि श्रीमती गाधी की बुआ को ही उनके खिलाफ खड़ा कर देना और भारत की राजनीति मे यह भी एक मिशाल रहेगा।

लेकिन देश की प्रथम महिला मुख्यमंत्री होने का गौरव प्राप्त हुआ था श्रीमती सुचेता कृपलानी को। उत्तर प्रदेश जैसे बड़े राज्य की जब वह मुख्यमंत्री चुनी गयी तो उनका मुखर व्यक्तित्व एक बार राष्ट्रव्यापी हो गया। उस समय कई तरह की प्रतिक्रियाए भी आयी। विरोधियों ने कहा कि श्रीमती सुचेता कुछ नही हैं, वह तो श्री चन्द्रभानु गुप्त की गोद में बैठी हुई है और स्वय उनके पति दादा कृपलानी, जो स्पष्ट बात कहने के लिए मुहफट कहे जाते हैं, उन्होंने अपनी पत्नी के मुख्यमंत्री बनने पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की—ये कांग्रेस वाले कितने उचक्के हैं, यह देख लो। मैं देखता ही रहा और मेरे सामने से मेरी पत्नी को ही लेकर भाग गए।—दादा स्वयं प्रजा सोशलिस्ट पार्टी मे थे और सुचेताजी कांग्रेस में।

यों भारतीय राजनीति को जिन महिलाओ ने धाड़-मार-पछाड की राजनीति की ओर वर्षों तक बहुचर्चित रही उनमे अरुणा आसफअली, मृदुला साराभाई, श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा, श्रीमती नन्दिनी सत्पथी आदि प्रमुख है। श्रीमती इन्दिरा गाधी के आगमन के पहले इस प्रकार के कई बहुविध नारी-चरित्र भारतीय राजनीति मे उभरे, लेकिन इन्दिराजी के आगमन के बाद इनकी कान्ति मद्धिम पड़ गयी और सच कहा जाए तो महिला राजनीतिक जीवन को भारतीय राजनीति में जो पदस्थान मिला, वह न भूतो, न भविष्यति के समान है।

यों विश्व की प्रथम महिला प्रधानमंत्री का गौरव श्रीलंका की श्रीमती सिरिमावो बंडारनायके को हासिल है, लेकिन दुनिया के सबसे बड़े गणतंत्र भारत का प्रधानमंत्रीत्व एक दूसरी ही चकाचौंध थी।

एक बार स्वय बातों के क्रम मे इन्दिराजी ने मुझे बताया था कि राजनीति में मैं आना नही चाहती थी, लेकिन पडितजी की मृत्यु के बाद तत्कालीन प्रधानमत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने मुझे अपने मत्रिमंडल में शामिल होने के लिए विवश कर दिया और उन्होने मुझसे चर्चा जरूर की, लेकिन मेरी स्वीकृति लिये बिना ही मेरा नाम मत्रिमडल के लिए घोषित कर दिया। उसके बाद केन्द्रीय मंत्रिमंडल की सदस्या के रूप में और बाद मे ११ वर्षों तक लगातार भारत जैसे महान् देश की प्रधानमत्री के रूप मे इन्दिराजी न केवल राष्ट्र मे वरन् अंतर्राष्ट्रीय राजनीति मे छाई रहीं। कभी वादों मे, कभी विवादों मे।

यह विवाद से परे है कि इन्दिराजी के समान व्यावहारिक और राजनीति मे निष्णात् नारी क्या, कोई पुरुष भी भारत के वर्तमान कालिक इतिहास मे हुआ होगा। अपनी दूरदर्शिता के बल पर उन्होंने कई मौको पर, जिनमे बंगला देश की मुक्ति, सिक्किम का मामला, परमाणु का विस्फोट आदि कई मुद्दे हैं, उन्होने दुनिया को अपनी सशक्तता, दृढ़ता और व्यावहारिकता का परिचय दिया। विदेशो मे उन्होने अपने व्यक्तित्व की एक साख कायम की और देश में भी इस बात को स्वीकार किया गया कि जवाहरलाल जहा एक भावुक कलाकार थे, वहा श्रीमती इन्दिरा गाधी एक कूटनीतिज्ञ हैं।

प्रधानमत्री के रूप मे उनके पहले ११ वर्षों के शासनकाल को हम तीन खडो में विभक्त कर सकते हैं, पहला १९६६ से १९६९ तक, दूसरा १९६९ से १९७५ तक और तीसरा १९७५ से मार्च १९७७ तक। पहले काल की इन्दिरा गाधी सघर्षों से जूझने वाली, व्यक्तित्व को सयोजित करने वाली, अपनी बुद्धिमता और कूटनीति के बल पर दुश्मनों का मुकाबला करने वाली एक सशक्त प्रधानमत्री के रूप मे हमारे सामने आती है। दूसरा काल उनके प्रधानमत्री काल का ऐसा आता है, जब हर कोई उन्हे स्वीकार कर लेता है—एक नेता के रूप में, प्रशासनिक क्षमता से परिपूर्ण प्रधानमत्री के रूप मे तथा विवादों के बावजूद भी राष्ट्रनेता के रूप में। लेकिन १९७५ से १९७७ तक का प्रधानमंत्री का काल, जब देश के सामने उनके कई चेहरे उभरते हैं, उनका ग्रहण लगा व्यक्तित्व सामने उभरकर आता

है। इलाहाबाद हाईकोर्ट के फैसले के बाद, आपात्काल की घोषणा के बाद, विरोधीदलों के और अपने दलों के अनेक नेताओं को जेल में भेजने के बाद—उनकी मृदुता समाप्त हो जाती है और बदले में उभरता है एक शासकीय कठोर रूप, जिसमें न तो गांधीवाद की बू रह जाती है, न जवाहरलाल की मानुषिकता और न कमला नेहरू की नारीत्वपूर्ण मर्यादा।

एक बड़े नेता ने उन दिनों मुझे यह कहा था कि नारी जब गुस्से में आती है, तो वह कुछ भी कर सकती है, उसका ही उदाहरण है इन्दिरा गांधी का वर्तमान रूप। और उसके बाद उनका जो भी रूप उभरा वह जननेता का कम था, संजय गांधी की मां का अधिक, जिसमें मूल्य छितरा गए थे और नीतियां बिखर गयी थीं। और यही था राजनीतिक उखाड़-पछाड़ और महिला राजनीतिक का वह रूप, जिसके सामने भारतीय लोकतन्त्र मूक बनकर प्रश्नचिह्न के समान खड़ा हो गया था, लेकिन वह बधिर नहीं था और न अंधा, बल्कि अवाक् था, जिसकी परिणति हुई विश्व के इतिहास में पद पर रहते हुए भी किसी प्रधानमन्त्री की सदस्यता के चुनाव में भी हार और वह भी श्रीमती इन्दिरा गांधी जैसे सशक्त व्यक्तित्व की जिसके इशारे पर भारत की राजनीति का सूर्योदय और सूर्यास्त होता था।

लेकिन महिला राजनीति की उखाड़-पछाड़ के साथ ही एक पक्ष और भी है, उनका अपना पक्ष, जिसमें हर महिला राजनीतिज्ञ कहीं न कहीं रंगीनियों में बंधी रही है। इसके अपवाद भी रहे हैं, लेकिन *पद्मजा नायडू* से लेकर श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा तक और श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित से लेकर अम्बिका सोनी तक के अनेक किस्से हवा में मंडराते भी रहे हैं, जिनमें से अनेक बिना सिर-पैर के नहीं है। सबके बावजूद इस बात को आधारहीन नहीं कहा जा सकता है कि नारी केवल शुष्क नारी कहीं नहीं है, उसकी रममयता का बोध राजनीति में भी रहता है और कई महिलाओं ने तो इसे ही अपना आधार बनाया।

रुखसाना सुल्ताना के किस्से, रजिया सुल्ताना से कम चर्चित नहीं हुए और न ही इन दिनों बरकटकी के किस्से ही कम रंग ला रहे हैं। इसी भांति श्रीमती मेनका गांधी से लेकर कमल-सुरेश तक की कहानियां

राजनीति के रंग में ही रंगी है। मेनका ने जब संजय से शादी की तो अपनी एक अन्तरग दोस्त से उसने कहा था—तुम क्या समझती हो कि मैं मारुति के डायरेक्टर से शादी कर रही हूं, नहीं, मैं भारत के भावी प्रधानमंत्री से शादी कर रही हूं।

और बहुत सारे उदाहरण तो ऐसे भी हमारे सामने हैं, जहां आज भी नूरजहा के समान कई महिला राजनीतिज्ञों ने अपनी आकाक्षाओं के लिए अपने-अपने पति पर राज ही नहीं किया, उन्हें मुट्ठी में रखने का भी उनका दावा है। महाराष्ट्र के भूतपूर्व मुख्यमंत्री दादा पाटिल की महत्त्वाकांक्षिणी पत्नी शालिनी ताई और केन्द्रीय मत्री श्री हेमवती नन्दन बहुगुणा की पत्नी कमला बहुगुणा की इन राहों मे कम चर्चा नहीं रही है। इसी प्रकार हिमाचल के भूतपूर्व मुख्यमत्री डा० परमार की दोस्ती श्रीमती सत्या से रही, जिसने अंत मे दोनों को प्रणय-सूत्रों मे बांध दिया और बम्बई के सुप्रसिद्ध राजनेता श्री रजनी पटेल भी बकुलजी से नहीं बच सके और वह भी बकुल पटेल बन गयी।

इन्दिराजी जब तक देश की प्रधानमत्री थी, वह शायद यह पसद नहीं करती थी कि कोई दूसरी महिला उनके सामने बढ़े इसीलिए राजदूतों का मामला हो, राज्यपालों का, केन्द्रिय मत्री-परिषद्‌का या अन्य महत्त्वपूर्ण पदों का, वह महिलाओं को दबाकर ही रखती थी कि किसी का व्यक्तित्व नहीं उभरे। नारी का शायद ईर्ष्या से पुराना सम्बन्ध है, इसी कारण यह होता हो। लेकिन फिर महिलाएं नये सिरे से उभर रही है, शारदा मुखर्जी आज राज्यपाल हैं, तो श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित पुनः मानव अधिकार समिति मे भारत का प्रतिनिधित्व करने संयुक्त राष्ट्र संघ में पहुच गयी हैं। लोकसभा में भी पक्ष-विपक्ष से कई महिला राजनीतिज्ञों का व्यक्तित्व उभरा है, जिनमें मारग्रेट अल्वा, पार्वती कृष्णन, लीला दामोदर मेनन, अम्बिका सोनी, कमला बहुगुणा, बेगम हबीबुल्ला, बेगम बरकत खा, डा० सुशीला नायर, सुशीला आडवरेकर आदि प्रमुख है, लेकिन सबके बावजूद लोकसभा के पुराने सदस्य जब सदन की दीर्घा से झांककर देखते हैं तो श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा और श्रीमती माया रे का चुलबुलापन अब कम दिखायी देता है। □

जनतंत्र तो है लेकिन कैसा ?

शीर्षक लम्बा हो गया है, लेकिन जानबूझकर, क्योंकि एक साथ कहने के लिए अथवा विचार के लिए कई सारी बातें मन में उठ रही हैं। जनतंत्र जिसके संबंध में अब्राहम लिंकन की कही बात आम-साधारण है कि जनतंत्र का अर्थ जनता के लिए, जनता के द्वारा, जनता का शासन और वही गांधी का चिंतन था कि प्रजातंत्र की जड़ में दरिद्रनारायण हैं तथा उनकी कल्पना में जनतंत्र कभी 'रामराज्य' का पर्यायवाची बनता था, तो कभी हर प्राणी के अभाव की पूर्ति का साधन।

जो हो, यह सही है कि भारत एक जनतंत्र है तथा जनतंत्र का ही और सीधा-सा अर्थ स्थापित हो गया है—जनता के मतों से बनी या चुनी गयी सरकार। भले मतदान में जनता न जाने पाए और बूथों पर कब्जा हो जाए, अवैध तत्त्व अपने अधिकारों द्वारा बैलेट पर मुहर मार दें—लेकिन सबके बावजूद यह भी सही है कि मत पेटियों में पड़े वोटों के आधार पर ही फल की घोषणा होती है और उसके द्वारा ही सरकार का गठन होता है और मान लिया गया है कि जन-प्रतिनिधि की हैसियत बड़ी है तथा ऊंची है।

लेकिन मेरी चिन्ता यह है कि जनतंत्र आज स्वच्छन्दतंत्र में बदल रहा है तथा स्वार्थतंत्र ने उसे दबोच लिया है। जन-प्रतिनिधियों को आज जितनी चिन्ता अपनी है, उतनी न तो समाज की, न देश की और न उन लोगों की जिनके द्वारा वे चुनकर जाते हैं। और धीरे-धीरे जनतंत्र को

जातीयता का कीड़ा काटता-डसता चला जा रहा है और बार-बार मुझे ऐसा लगता है कि यदि यही रंग-रवैया रहा तो भारतीय जनतंत्र का हाल कही वही न हो जाय, जो आज एशिया-अफ्रीका के अधिकांश देशो का है। कुर्सी की लिप्सा और पैसे का मोह दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व जनतंत्र के नाम पर हावी हैं। और बिहार, उत्तर प्रदेश मे इनके साथ ही हिंसक अथवा असामाजिक तत्त्वों का गठबन्धन हो गया है।

एक ही चिन्ता हर जगह व्याप्त हो रही है—क्या होगा इस इतने बड़े देश का और कब तक ऐसे ही चलता रहेगा। हर आदमी आज इन सवालो को बड़े दर्द के साथ पूछता है, उत्तर कही से भी सटीक नही मिलता।

ठीक तंत्रों के समान ही वादों का भी अस्तित्व आज खतरे मे है। साम्यवाद, गाधीवाद, समाजवाद जैसे शब्दों ने विगत कई दशकों की साधना के बाद एक आकार लिया लेकिन व्यवहार मे पिछले दिनों अपने देश में 'पुत्रवाद' ने इन वादो को राहु के समान ग्रस लिया। और आज सही स्थिति यह है कि सबसे बड़ा वाद 'आतंकवाद' साबित हो रहा है, जिसके सामने बड़े से बड़े वाद ने घुटना टेक दिया है।

कोई गहराई से इन विषयों पर सोचने-विचारने के लिए तैयार नही है। दरअसल स्थिति वैसी ही दिखाई दे रही है, जो महाभारत काल में थी। कौरवो की सभा मे पाण्डवों के दूत बनकर जब श्रीकृष्ण गए और उन्होने उस सबों को बारी-बारी से यह समझाने की कोशिश की कि लड़ाई न हो, पाण्डवों को उनका हक मिल जाए। सबो ने इन बातो को समझा भी, लेकिन कौरवों का सूत्र जिसके हाथ मे था, उस दुर्योधन की वाणी ही कुछ और थी—

"हे कृष्ण, आपको सोच-समझकर कहना चाहिए। पाडवों का पक्ष लेकर आप मुझे ही विशेष रूप से क्यो चापते है? मै अपनी कोई त्रुटि नही देखता, पर आप, विदुर, मेरे पिता, आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म मुझमे ही त्रुटि निकालते रहते हैं। गहराई से सोचकर देखता हू तो मुझे लगता है कि पाडवो ने मनचाहा जुआ खेला, उसमे वे शकुनि से अपना राज्य हार गए तो इसमे क्या हमारा दोष है? पासों से दाव खोकर यदि वे वन मे गए तो क्या यह हमारा अपराध है? हमने उनका क्या बिगाड़ा

है ? पिता ने जो राज्य मुझे दिया है, अब जीते-जी उसमें से मैं किसी को कुछ देने वाला नही । हे कृष्ण, सुई की नोंक के बराबर भूमि भी अब मैं पाडवो को न दूंगा।"

आज की स्थिति मे हर आदमी अपने को दुर्योधन के ही तेवर मे रखे हुए है । नतीजा स्पष्ट है, हर ओर अशान्ति, विग्रह, अनाचार, अनैतिकता तथा असतोष। चलते-घूमते मैं जब किसी की ओर देखता हू तो उसकी आखों मे एक प्रकार के असतोष की आग जलती हुई दिखायी देती है। कर्त्ता और कर्म, ज्ञान और मर्म, चिन्तन और मनन सबके सब कही खोते जा रहे हैं।

वर्तमान समय देश अथवा विश्व के लिए सकट का समय है। इसका मुख्य कारण यह भी है कि ऐसे नेता का अभाव होता जा रहा है, जो नैतिकता को अपना सबसे बडा अस्त्र बनाए। पूरी दुनिया मे आज जो नेतृत्व पनप रहा है, उसमे सत्ता की ही प्रधानता है, व्यवस्था की नही। और यही बात भारत के सामने भी है। गांधी को सबसे बडी सफलता यही थी कि सत्ता अथवा कुरसी से अलग हटकर उन्होने एक व्यवस्था दी थी और आमजन ने उसे श्रद्धा और विश्वासपूर्वक स्वीकारा था।

आज हर ओर अस्वीकार की प्रधानता है, नतीजा है कि कोई किसी को स्वीकार करने मे भी हिचकता है। हम ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर यह बडे गर्व के साथ कहा करते हैं कि भारत एक ऐतिहासिक और महान् देश है, लेकिन भूल जाते है कि समय-सन्दर्भ केवल मलवो ही पर नहीं चलता, उसके लिए वर्तमान का सत्व ही सत्य होता है। और हमारा वर्तमान, मलवा ही तो साबित हो रहा है, जहां कंधो पर हम बोझ ढोने का काम कर रहे हैं।

जनतत्र एक आस्था है, जिसे हम मखौल बना रहे हैं—यही आज के सदर्भ की सबसे बड़ी पीड़ा है।

१९२९ मे मध्य प्रदेश युवा-सम्मेलन में अध्यक्षपद से श्री सुभाषचन्द्र बोस ने भाषण देते हुए कहा था—'भारतवर्ष एक छोटी-मोटी पृथ्वी है—जगत की सारी समस्या ही भारत की समस्या के समाधान का अर्थ है जगत-समस्या का निराकरण।'

देश स्वाधीन हुआ। हर पीड़ित और संघर्ष में रत व्यक्ति ने मधुरिम सांस ली, भविष्य के सुनहले सपने देखे—लेकिन आज···बड़े-बूढ़े जो ३०-४० में बच्चे थे जवान थे वे भी कभी-कभी आह के साथ कह पड़ते हैं—इससे अच्छा तो अंग्रेजों का राज था।—तो आज का तरुण या युवा अवाक् रह जाता है। क्योंकि उसने अंग्रेजों का राज नहीं देखा था और आजादी के बाद की देन है।

लेकिन संकटापन्न और समस्याग्रस्त जनतंत्र भयानक पीड़ा है। हर ओर असंतोष तथा अभाव की वेदना नजर आती है। केवल नैतिक मूल्यों का नहीं, राजनीतिक, सामाजिक और बौद्धिक चेतना का भी ह्रास हो गया है।

और हर समझदार आदमी आज भौचक अथवा सकते में है कि यह क्या हो रहा है अथवा यह सब क्या है?

□

सब ऐसे ही चलता है

मन रह-रहकर कही बेतरह उदास हो जाता है। इन दिनो प्राय. यह विचार उठ खड़ा होता है कि जीवन का उद्देश्य क्या है तथा क्यों यह हाय-तोबा, यह दौड़-धूप, यह आव-जाव, यह काम, वह काम! क्यों बेतरह फसना तथा अपने को फसाना। क्यों नही एक ही स्थान पर केन्द्रित हो जाऊ। कम मिलना, कम बातें करना और कम से कम बोझ उठाकर जीवन मे चलो। सोचता हू कि ऐसा ही हो तो कितना अच्छा हो। सारा समय भागा जा रहा है —हम क्या कर पा रहे हैं?

खेतो मे काम करते किसानों को देखता हूं, बोझ ढोते मजदूरो को देखता हू, रिक्शा चलाते रिक्शाचालको को देखता हू, ट्रको तथा अन्य वाहनों मे ठसाठस सवारियो को देखता हूं—ऐसा लगता है मानो खटना, खाना, सोना और मर जाना, बस यही इतिश्री है पूरे जीवन की।

जीवन मे एक बडी लालसा बार-बार खीचे जा रही है—एक बार पुनः एम० पी० हो जाता या फिर किसी प्रकार दिल्ली पहुच जाता। यह मुझसे ज्यादा मेरे परिवार को, उनसे भी अधिक मेरे परिवेश को, साथ-संग रहनेवाले लोगों को मथ रहा है।

यह व्यामोह कब तक पाल कर चलूं। पालों वाली नाव की जिजीविषा कब तक? सुनहरे ख्वाब कब तक? भयानक लालसा ज्वार कब तक? क्यों मैं पारिजात के फूलो मे यह जहर छिपाकर चलू कि ये कभी कुम्हलायेगे नही।

लोगों की दृष्टि भी विचित्र है। हर आदमी एक बार राजनीति में रह लेने के बाद राजनीति को ही जीवन दिशा मानता है। कितना बड़ा भी लेखक, सामाजिक प्राणी, आत्मचेता, गुरु-गंभीर मनुष्य क्यों न हो जाऊं—लोग तोलते हैं बस एक ही बात से कि मै राजनीति मे क्या हू। एम० पी०, एम० एल० ए०, एम० एल० सी०, मंत्री यदि न हुआ तो जीवन व्यर्थ।

मैं लोगों को यदा-कदा समझाता हूं कि ७० करोड की आवादी वाले देश में एक हजार लोग ही मत्री, एम० पी०, गवर्नर या विशेष हैसियत वाले होंगे, चार-पाच हजार एम० एल० ए०, एम० एल० सी० होंगे, शेष लोग भी तो आखिर डाक्टर, इजीनियर, कलाकार, पत्रकार, कवि, लेखक, प्रोफेसर, व्यवसायी तथा समाज के कुछ न कुछ हैं तो उनकी भी तो कुछ न कुछ हैसियत है ही। फिर इतनी ही लालसा क्यों ?

यह भी पाता हू कि लगभग १०० मे ६० लोग ऐसे होते है जो राजनीतिज्ञों की बुराई करते हैं, बातचीत मे घृणा जताते है—फिर वे ही लोग राजनीति की बातें भी करते हैं तथा राजनेताओ के पास भी सटते है। तो यह दोनो बातें एक साथ कैसे चल सकती है ?

घृणा भी और प्रेम भी। लगाव भी और अलगाव भी। बुराई भी और खुशामद भी। इसमे सामान्य जन की अपेक्षा मैंने बुद्धिजीवियों को ज्यादा आगे देखा है। मुझे स्वय इन बातो से तथा ऐसे आचरण से वितृष्णा होती है।

मैं मानता हूं कि राजनीतिक हूं, यह भी मान लेता हू कि बुरा हूं—लेकिन तुलना में समाज के अन्य पेशे के लोगों को अपने से कही अधिक गिरा हुआ पाता हूं।

लोग बड़े चाव से तथा सीना ठोककर कहेंगे—इस देश को राजनीतिक रसातल में ले जा रहे हैं, राजनेताओं ने सारा माहौल चौपट कर रखा है, मेरा वश चले तो इन्हें गोली मार दूं।

लेकिन वे यानी समाज के दूसरे वर्ग के लोग—प्रोफेसर, पत्रकार, डाक्टर, वकील, व्यवसायी, सरकारी अफसर, क्लर्क सबके सब क्या दूध के धोए हैं? मैंने सर्वेक्षण करके देखा है तो पाया है कि नीति की बातें

करने वालों को जब कुर्सियों पर बैठने का मौका मिला है तो वे राजनेताओं से भी ज्यादा भ्रष्ट साबित हुए है।

रोज-बरोज मैं अनेक उदाहरण देखता हूं। कोई इंजीनियर मंत्री या अपने वरिष्ठ अधिकारी को १०-२० हजार देकर अपना पदस्थापन किसी मनचाही जगह में कराता है, तो वहां जाते ही उसका पहला उद्देश्य होता है कि किस प्रकार उसके बदले लाख दो लाख हम कमा लें। ध्यान से देखें तो भ्रष्ट कौन हुआ—वह मंत्री या अधिकारी या वह इंजीनियर? निश्चित रूप से भ्रष्ट वह इंजीनियर है जो घूस देकर अपना पदस्थापन लाभ वाली जगह करवाता है और वहां लूट की प्रक्रिया शुरू करता है। उसके सामने अपना उद्देश्य ही प्रमुख या प्रधान है। अपने लिए ही उसने घूस दिया और बाद में उसका दसगुना-बीसगुना वसूल किया।

फिर ऐसे ही लोगों के मुंह से दिन-भर नीति-ज्ञान की बातें सुनने को मिलती हैं।

सबसे प्रबुद्ध वर्ग प्राध्यापकों अथवा प्रोफेसरों का मैं मानता हूं, क्योंकि उनका कार्यक्षेत्र पढ़ना और पढ़ाना है। लेकिन बातों के क्रम में मुश्किल से दस-पांच प्रतिशत प्रोफेसरों के मुंह से मैंने 'एकेडेमिक' बातें सुनी हों, शेष की चिन्ता यह रहती है कि जमीन कैसे लें, मकान कैसे बनाएं, स्कूटर और गाड़ी जल्द से जल्द हम कैसे खरीदें। और इसके लिए टेक्स्ट, नोट्स, ट्यूशन, परीक्षा कापियों की जाच को मैं खून-पसीने की बौद्धिक कमाई मानता हू। लेकिन आज स्थिति यह है कि कापी में नम्बर बढ़ाने से लेकर पास कराने तक का धंधा और पांच-दस हजार लेकर पूरे प्रश्न-पत्र को 'आउट' कर देने का सिलसिला भी जारी हो गया है।

इतनी ही बात होती तो गनीमत थी, पहली बार शिक्षण जगत में प्राध्यापकों की नियुक्ति, पदस्थापन, स्थानान्तरण तथा कॉलिजों तथा विश्वविद्यालयों के शिक्षकेत्तर बहालियों में भी खुलेआम घूस अथवा लेन-देन की चर्चा जगजाहिर है। वे कौन हैं जो ऐसा कर रहे हैं? सामान्य रूप से इस समय बिहार के सभी विश्वविद्यालयों के कुलपति प्रोफेसर वर्ग से ही आए लोग हैं तथा सबके सब बीस-पच्चीस सालों के अनुभवी प्राध्यापक हैं। लेकिन भ्रष्टाचार के जो किस्से उनमें से अधिकांश के संबंध में जो

सामने आ रहे हैं, उन्हें सुनकर रोम-रोम सिहर जाता है। जब गंगोत्री में ही गंदे नाले का अवतरण हो रहा है तो आगे की धारा का क्या भरोसा?

सब यों ही चला जा रहा है। मेरे समान ही थोड़ा-बहुत सोचने-समझने तथा जानने-सुनने वाले लोगों को मानसिक कष्ट होता है, जिसे बौद्धिक-विलास ही मानना चाहिए। जो समझदार होगा उसे कष्ट तो होगा ही। अत: सोचना-समझना भी बेकार है।

आज के समय-संदर्भ की मांग है कि आदमी अपने चिन्तन को, बौद्धिक जागृति को गिरवी रख दे—तभी वह अधिक से अधिक सुखी रह सकता है।

क्या मैं भी वही करूं—जो युग की मांग है।

□

छूटा हुआ सुख

गाड़ी अभी-अभी खुली है और अवसाद के समान विदाई के लिए हिलते-डुलते हाथ डबडबाई आंखें, कुछ साथ-साथ बढ़ते कदम और बुदबुदाते होंठ पीछे छूट रहे हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की गीताजलि अब पुस्तकालयों की शैल्फ की वस्तु नहीं रही, बल्कि कलकत्ता में बम्बई को जोड़ने वाली एक परिधि भी हो गयी है। पहले नवजात-शिशुओं का नामकरण ही सुरुचिपूर्ण होता था, अब 'विक्रमशिला', 'हिमगिरि', 'चेतक', 'काशी-विश्वनाथ', 'कारेमण्डल', 'मराठा', 'वृन्दावन', और 'गीताजलि', जैसे नाम यह घोषित करते हैं कि सुरुचिपूर्णता का क्षेत्र चेतन ही नहीं जड़ भी है और इन गाड़ियों पर चढ़ने वाले यात्रियों को रोमाच अथवा गुदगुदी भी होती है।

विचित्र है यह शहर कलकत्ता भी। एक करोड़ से अधिक की आबादी और उसमें भी प्रतिदिन एकाध लाख लोगों का आना-जाना। मैं दो से यदि तीन दिन रह जाऊं इस शहर में तो पागल हो जाऊं। कोई ऐसी जगह नहीं, जहां नरमुण्ड ही नरमुण्ड न दिखलायी पड़ते हों। सड़क, गली, फुटपाथ, प्लेटफार्म, बस-स्टैण्ड, ट्राम-स्टापेज, पान की दुकान, स्मगिल्ड सामानों की प्रदर्शनी, पानी लेने वाला कल, हर जगह आदमी और आदमी के ऊपर आदमी। यहां आदमी के अस्तित्व पर ही मुझे शका है कि वह आदमी है या नहीं। इसीलिए सवेरे आया तो शाम को ही 'भागो' का नारा यहां बुलन्द कर देता हूं। कलकत्ता में भीड़ नहीं भगदड़ है और महानगर का अभिशाप ही है कि जीता-जागता आदमी यहां मशीन का प्रतिबिम्ब हो

या है।

जिन गाव के अपने पण्डितजी से मिलने गया वह एक छोटे से कमरे र पूरे परिवार के साथ पिछले ४० वर्षों से जी रहे हैं। पढ़ाई-लिखाई से लेकर पूजा-पाठ तक और कापो जाचने से लेकर पाक शास्त्र की पावन महिला तक बस एक कमरे मे। और वह कमरा भी धन्य है कि उसने न तो कभी सूर्य की रोशनी देखी, न हवा का स्पर्श महसूस किया। पण्डितजी को बस एक ही सतोष जिलाए जा रहा है उस कमरे में कि बस पच्चीस रुपये माहवारी किराया जो चालीस साल पहले देता था, वही आज भी दे रहा हूं।

मै कहा के पचड़े मे फंस गया, बात शुरू की थी गीतांजलि-एक्सप्रेस की और गाड़ी हाकने लगा पण्डितजी के कमरे में। गाड़ी छूटने को ही फिर सामने लाता हू—मेरे सामने की सीट पर खिड़की से मुह और प्लेटफार्म से आखें लगाए महिला बिहुक पड़ी और लुढ़कते आसुओ को पोछने का सस्कार भी भूल गयी। मुझे यह सब बहुत अच्छा लगता है, किसी की आख से झरते आसू केवल वेदना के ही नही, ममत्व, के सग्रहीत प्यार के, भयानक संत्रास के, दबी चेतना के, खोए विश्वास के और प्रचुर संस्कार के द्योतक होते हैं। सामने की बगालिन महिला सहसा मुझे बोध करा देती है रवि बाबू की 'गीताजलि' की।

पर क्या मेरा स्वय का जीवन अछूता है उन सपनो से जो केवल थपथपाती ही नही, रह-रहकर कसमसा भी देती है, कितने दिन हुए होंगे, जब उन्होंने मुझे लिखा था—'आपका पत्र पाकर जो चैन मिलनी चाहिए थी नही मिली। आपकी इस भावना की मैं बेहद-बेहद कद्र करती हूं। सवेदना के आदान-प्रदान का महत्व समझ रही हूं। पर आप तो दर्द पर फाहे रख देने का काम भर कर रहे हैं। मुझे किसी से कोई शिकायत नही है। शिकायत अपने आपसे हैं।···लगता है कि मैं कलाबाजी खाती हुई बुरी तरह थक जाती हू। मेरे पास समय नही है।'

और तब, उत्तर देना मेरी लाचारी हो गयी थी—'आज पहली बार आपने मुझे वह सबोध दिया, जो मुझे सबसे प्रिय है, लेकिन मैंने उसका व्यवहार कभी बातों मे या लिखने मे नही किया। संवेदनशील मित्रता की

बात स्वयं करना नही चाहता, लेकिन इतना जरूर कहना चाहूंगा कि मेरे विश्वासों की परिधि में कही भी 'घात' नही है।'

उतने से ही सतोष नही हुआ मुझे—'बहुत कहने या सुनने की अपेक्षा आंखों मे भर लेने या महसूस होने की क्रिया शायद अधिक शाश्वत होती है।

पुरुप अपने को खोलना चाहता है, नारी अपने को छिपाना चाहती है, लेकिन विचित्र शक है यह दो अक्षरो का मेल भी, हर क्षण एक जीवन जीने और उस क्षण के कण मे भी मरने और जीने की विचित्र पिपासा का ही सही नाम 'नारी' है।

□

गंवई—गांव : कुछ बातें

आज ही गांव आया हू और तीन दिन तक रुकूंगा। सोचा है इस बार कि पूर्णतया देहाती वनकर देहात मे रहूंगा, कही भी अपने ऊपर पटना या दिल्ली की छाप नही आने दूंगा। व्यवहार मे, खान में, पान में, उठने-बैठने में, मिलने-जुलने सब कुछ मे। और इसीलिए आते ही, बरामदे में कुर्सी-टेबिल-चौकी सब हटवा कर नीचे ही दरी बिछवा दिया और उसी पर सब एक साथ बैठे—गाव के सबसे बड़े बुजुर्ग जिनकी उम्र ९० से एक-दो साल अधिक ही रही होगी—जदु चाचा, टहल साव, अटहा मोची, बरन पण्डित, मोहन यादव तथा और भी सभी।

जो भी आता है पहली सास में ही शुरू करता है—इस साल तो जान नही बचेगी, इतना भयकर अकाल होगा – बचाइए।

आषाढ़, सावन बीत गया है, लेकिन इस इलाके मे सर्वत्र त्राहि-त्राहि है। कही भी पानी नही है—न खेतों में, न आहेरों में, न पईनो मे और न नदियो मे। पानी है तो केवल एक जगह—किसान और ग्रामीण मजदूर की आखो मे। दु.ख, दर्द, पीड़ा और भविष्य की भयावह स्थिति की कल्पना कर सहमते-सिसकते और कसमसाते आंसू।

विचित्र हाल है इन देहातों का—किसी-किसी प्रकार देहातों का—किसी-किसी प्रकार जोड़-तोड़ कर, कर्ज-वर्ज लेकर बेचारा किसान बीज बोता है और जैसे-जैसे बीज से अंकुर फूटता है उसकी आखें भी आशा और निराशा के हिंडोले में झूलती हुई आसमान की ओर टिकी रहती हैं। नक्षत्र

असरेसा, अदरा, मघा, चित्रा, सब उनकी अंगुलियों की पोरों पर। भगवान से बड़ी चीज उसके सामने कोई नही। प्रकृति ने बारिस दी; पैदावार हुई और न दी तो फिर जिन्दगी मे कोई चारा नही।

मेरा गाव भवानीपुर भी भारत के ऐसे ही ५ या ७ लाख गावों मे है जिनके घर का कोई भी एक व्यक्ति बाहर कही काम करता है—उनका नमक-मिर्च-मसाला कपड़ा किसी प्रकार चल जाता है लेकिन असिंचित क्षेत्रो मे एकमात्र आशा-उम्मीद भगवान पर टिकी होती है।

मैंने इधर अपने गाव से नया सपर्क जोड़ा है। पिताजी के नाम पर एक केन्द्र की स्थापना की है, जिसके माध्यम से चाहता हूं कि ग्रामीण समस्याओं का निकट से अध्ययन हो तथा उन्हे सुलझाने का प्रयास भी। स्थान को कर्मठता का प्रतीक बनाया है—हरीतिमा से आच्छादित। लेकिन मैंने यह प्रयास किया है कि फूल न लगा कर फल लगाऊ तथा केक्टस और क्रोटन नही लगाकर सब्जी पर जोर दू। कुछ-कुछ ऐसा किया भी है, पता नही गाव के लोगो ने इससे कुछ सीख ग्रहण की या नही।

लोगो का ताता लगा हुआ है, जो भी आता है बस यही कहता हुआ आता है कि 'अकाल आ गया, इस बार तो बचना मुश्किल है।'

हर व्यक्ति आशा, उम्मीद, आकाक्षा और भरोसा लेकर आता है—लेकिन मैं सिवा शाब्दिक सहानुभूति के और दे ही क्या सकता हू ?

गवई गावो की अपनी भाषा होती है, अपना सस्कार होता है, परम्पराओं से जुड़ा अपना अहम् होता है तथा जीवन जीने की चली आती एक रेखा होती है। भारत का किसान शायद दुनिया का सबसे सतोषी जीव होता है। बीज खेत मे ही सूख जाएं या पौधे लगकर कुम्हला जाए या खेत परती रह जाए—तब भी उसकी आशा भविष्य पर टगी होती है।

अपनी आखो मैं देखा हूं—आर्द्रा, चित्रा आदि नक्षत्र बीत गए है, खेतों मे तैयार बीहन पानी बिना मुरझाना शुरू हो गए हैं, जिन खेतों मे रोपनी होनी चाहिए थी, उनमे दरारें पढ गयी हैं—लेकिन किसान अभी भी आसमान की ओर आखें लगाए हुए हैं। आकाश के किसी कोने में बादल का कोई टुकड़ा टगा दिखायी देता है तो किसान की नजर भी वहा जाकर टिक जाती है—काश, ये बादल बरस जाते। लेकिन आशा और निराशा

की आँख-मिचौनी चल रही है, मैं तीन दिनों के अपने आवास में देखता हूँ बादल उमड़-घुमड़ कर आते हैं और ईसा मसीह के समान आकाश की सूली पर लटककर चले जाते है और बेचारा किसान अपनी किस्मत को भी सूली पर ही लटका हुआ पाता है।

गावों की सबसे बड़ी समस्या है—पढ़े-लिखे नौजवानों की बेरोजगारी अथवा बेकारी। औसतन प्रतिदिन एक सौ लोग मेरे पास आस-पास से आते है, जिनका लड़का मैट्रिक या आई० ए० या बी० ए० या एम० ए० करके साल-दो साल चार-साल से बेकार बैठा है और कहने वाले कई प्रकार की बातें कहते हैं, जिनमें उनका दर्द भरा होता है। यह कि 'यह जानता कि पढ़-लिखकर भी यह बेकार रहेगा तो इसे पढाता ही नही।'

यह कि 'कहीं भी कोई नौकरी इसे दिला दीजिए, हमारा पिंड छूटे, घर में पूरे परिवार के लिए भारी सिरदर्द बना हुआ है।'

यह कि 'नहीं पढाता तो ज्यादा अच्छा था, खेती-बाड़ी में मदद करता। अब तो खेती-गृहस्थी मे लगना बेइज्जती समझता है।'

यह कि 'कर्ज ले-लेकर अब तक दो-तीन हजार रुपया लड़के को दे चुका हूं, नौकरी खोजने और इंटरव्यू में जाने के लिए, लेकिन कोई लाभ नही निकला। हर जगह 'सोर्स' और 'पैरवी' वाले की ही पूछ होती है।'

मैं जब लड़कों को खुद बुलाता हू बात करने के लिए तो उनमे और उनके पिताओं मे पीढ़ियों का भयानक अन्तर देखने मे आता है। एक ओर ठेहुने की उधर धोती, फटा कुरता, तेल से रीठी टोपी, चमरखानी जूता और दूसरी ओर टेरलीन का शर्ट, मोहरीदार पेंट और मुगलिया कट मूँछें तथा वर्षों से न बनाए बाल। लगता है देखने से कि कमाया और खाया का अन्तर क्या है?

२०-सूत्री आर्थिक कार्यक्रमों के बाद गावों की स्थिति में कुछ परिवर्तन आया है। स्कूलों मे लड़कों को किताबें और कापिया उचित दामों पर मिलने लगी हैं, किरासन तेल, चीनी, डालडा, सीमेंट, कपड़ा गेहूं—बाजारों में अब सहज उपलब्ध है। गांवों मे कही-कही एकाध बेरोजगार नवयुवक ने मिनी-बस खरीद ली है। बैंकों से कर्ज लेकर होशियार किसानो ने पम्प या ट्रैक्टर तक ले लिया है। पहले लोग जानते नही थे लेकिन अब नयी-नयी

किस्मों की धान, गेहूं, अरहर, भुट्टा, बाजरा आदि के बीज किसान उपयोग में लाने लगे हैं। खाद के व्यवहार ने फसल क्षमता दुगुनी-तिगुनी कर दी। इस प्रकार पाता हूं कि लाख अभावों के बावजूद भी भारत के गाव विकसित हुए हैं।

हर गाव में दो-चार-दस बी० ए०, एम० ए० अब जरूर मिलते हैं। शायद ही कोई ऐसा गाव हो जहां एक-दो एम्बेसडर या फिएट अब लगी न मिल जाएं तथा मिट्टी के घर अब ढहते जा रहे हैं, उनकी जगह ईंटों के घर अब स्थान ले रहे हैं।

सबके बावजूद नजदीक से देखने पर यह स्पष्ट है कि भारत की आम जनता, निरक्षर जनता, अभावों मे जकड़ी जनता एकमात्र आशा उम्मीद श्रीमती इन्दिरा गांधी के प्रति रखती है और उसे विश्वास है कि उनके दिन वास्तव में यदि फिरेंगे तो इन्दिराजी के सिवा और किसी से नही।

तभी तो अभावों के बीच मे पला, बढ़ा और अब जर्जर एव वृद्ध जटहा चमार जब मेरे पास आता है और जब मैं उससे हाल-चाल पूछता हू तो वह सहज रूप मे जवाब देता है—'सरकार! ऊपर इन्द्र भगवान और नीचे इन्दिरा गाधी की कृपा हो जाए तो ई नरक जीवन स्वर्ग बन जाए। और कोई आशा उम्मीद नही है।'

□

शर्म को भी शर्म आती है

जयप्रकाश गरीबों, दुखियों और मजलूमों के प्रकाश, १९४२ के क्रांतिदूत, १९४७ से अब तक देश के लोकनायक और राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के बाद सत्ता से अलग देश के सबसे पूजनीय व्यक्ति, जनता पार्टी और जनता सरकार के जनक, लोकतंत्र के रक्षक, इतिहास के एक सशक्त मीनार और गांधीवाद, समाजवाद तथा सर्वोदय को एक नक्शे में पिरोने वाले अध्येता—और उन्हीं जे० पी० के बारे में २२ मार्च, ७९ को १-३० बजे अपराह्न में जो कुछ भी घोषणा की गयी उसे याद कर शर्म को भी शर्म आती है।

शायद दुनिया के भूलों के इतिहास मे इतनी बड़ी भूल आज तक कभी नही हुई होगी। राष्ट्रपति अवरुद्ध, प्रधान मंत्री शोकाकुल, राष्ट्र चिंतित, लोकसभा मे अध्यक्ष की घोषणा, श्रद्धांजलियों का अर्पण, आकाशवाणी से प्रसारण, केन्द्रीय गुप्तचर विभाग की पुष्टि, गृह मंत्रालय की मुहर, यू० एन० आई० और पी० टी० आई० जैसी एजेंसियो की रिपोर्ट, अनेक विधान सभाओं मे इसकी घोषणा और न जाने कितने युवा हृदयों में बन्द असीम धड़कनें, इन सबके लिए कौन जिम्मेदार है?

जे० पी० का जीवन मौत और जिन्दगी की एक अवर्णनीय कहानी है। राजनीति मे जिस दिन से उन्होंने पांव दिया, गांधी का सम्पर्क हुआ हो या जवाहर लाल से मैत्री अथवा डा० राम मनोहर लोहिया, अच्युत-पटवर्धन, आसफ अली, आचार्य नरेन्द्र देव जैसे मित्र मिले हों और अन्त में

विनोबा जैसे सहधर्मी—लगभग हर जगह जयप्रकाश ने चोटें खाईं। समाजवाद की दुविधा मे गाधीवाद को छोड़ा। सत्ता के स्वार्थ से अलग रहने के लिए जवाहरलाल के समान भाई की बात भी नही मानी। राजनीति मे नीति के प्रति हिलते मूल्यो के कारण उससे अलग हो गए। आचार्य विनोबा को जीवन दान दिया लेकिन जब जीवन दानी की गर्दन सत्ता की तलवार के नीचे आ गयी तो विनोबा ने उस गर्दन को सहलाया भी नही और इस पीड़ा के साथ जे० पी० १६४२ के समान ही एकबार फिर १६७४-७५-७६ मे अपनी जान को हथेली पर लेकर कूद पड़े एक बडे समर मे जिसकी यातना एक अनकही कहानी और फल भारत मे लोकतत्र का लहलहाता हुआ पौधा।

और उन्ही जे० पी० के साथ अन्त मे इतना बडा खिलवाड किया गया, उनके द्वारा जिनका निर्माण और जिनके अस्तित्व की रक्षा जे० पी० का प्राण धर्म था।

यह सही है कि आदमी अमर नही होता। मौत आती है, कभी चुपके से बिल्ली की तरह पाव दबाकर और कभी सिंह की तरह दहाडते हुए अथवा समुद्र के तूफानों की तरह गरजते हुए।

लेकिन उस आदमी का जीवन जो अपने लिए नही ६२ करोड जनता के लिए धुकधुकी बनकर जी रहा था, क्या सत्ता की पीड़ा यह थी कि यह धुकधुकी भी बन्द हो जाए।

शर्म को भी वास्तव मे शर्म आती है। जे० पी० जसलोक अस्पताल की १६वी मजिल पर 'इनटेंसिव केयर' मे मौत और जिन्दगी की लड़ाई लड रहे हैं, पूरा देश उनके लिए शुभकामनाए अर्पित कर रहा है, डाक्टर अपनी जान की बाजी लगाए हुए हो, हर जगह प्रार्थनाए की जा रही हो और ऐसे जीवित और जागृत जे० पी० को भगवान ने नही उठाया, वे भी सहम रहे होंगे, डर रहे होंगे, सकुचा रहे होगे लेकिन जनता सरकार ने उन्हें उठा दिया, भले चन्द-लम्हों के लिए सही, लेकिन इससे बड़ी शर्मनाक बात नही हो सकती।

शोक श्रद्धाजलि के बाद लोकसभा स्थगित की गयी और क्षमा मांगने के लिए पुन: ५ बजे लोकसभा की बैठक बुलायी गयी। मोरारजी भाई ने

देश से क्षमा याचना की, अखबारों में गुप्तचर विभाग तथा महाराष्ट्र पुलिस की भूल बतायी गयी—क्या इससे समाधान हो जाता है ? अनगिनत प्रश्न जो लोगों के मन मे उफान बनकर उफन रहे हैं, क्या उनका उत्तर मिल गया ? मामूली से मामूली आदमी मे भी इस भयानक भूल पर गुस्सा खून बनकर आखों में छलछला रहा है, क्या वह शांत हो गया ?

जैसा कि अखबारों से विदित हुआ सबसे पहले केन्द्रीय गुप्तचर विभाग के वरिष्ठ पदाधिकारी ने बम्बई से फोन पर दिल्ली के महा-निरीक्षक, गुप्तचर विभाग को यह खबर दी और महानिरीक्षक ने प्रधान मंत्री को। दिल्ली स्थित एजेंसियों के कार्यालयों ने आपाधापी में इस समाचार का प्रसारण किया। उन्ही एजेंसियों के बम्बई स्थित सम्वाद-दाताओं ने इस खबर को झूठी बताया लेकिन सरकारी सूत्रो से आए ये समाचार भला गलत कैसे हो सकते हैं। यह दिल्ली स्थित बड़े पत्रकारों ने सोचा जिनकी नजर अमूमन लोकसभा, राष्ट्रपति भवन अथवा सेन्ट्रल सेक्रेटरिएट के गुम्बजों पर अधिक होती है, जमीन पर कम।

केन्द्रीय गुप्तचर विभाग ने यह खबर भेजी थी। कौन केन्द्रीय गुप्तचर विभाग—वही जिसने १९६२ मे तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहर लाल को यह खबर दी थी कि चीनी आक्रमणकारी आ रहे हैं लेकिन उनमे कोई दम नहीं है और भारतीय सेना उन्हें सहज रूप से मार भगाएगी।

जिसने १९७४-७५ में तत्कालीन प्रधानमत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी को यह खबर दी थी कि जे० पी० का आन्दोलन 'बच्चों का तमाशा है और यह 'टांय-टांय फिस' हो जाएगा।

जिसने १९७६-७७ में प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी को यह दिलासा दी थी कि यदि अभी चुनाव कराए जाए तो उनकी सत्ता ज्यों की त्यों बरकरार रहेगी। और उसी केन्द्रीय गुप्तचर विभाग ने एकबार अपनी कार्य-दक्षता, बुद्धिमत्ता, और क्षमता का यह परिचय दिया कि जीवित जे० पी० 'स्वर्गीय जयप्रकाश' हो गए।

भारतीय जन-मानस मे अनेक शकाएं इससे पैदा होंगी, वह तो [illegible] लेकिन दुनिया मे हमारी साख इस समाचार से जिस प्रकार समाप्त हुई है [illegible] हास्यास्पद ही नही शर्मनाक भी है। दर्दों के उभरते हुए [illegible]

शर्म को भी [illegible]

से अथवा किसी वाम से कम नहीं होते। अमराइयों में लगे हुए टिकोले कोयल की कूक से झर नहीं जाते। जीवन चेतना के फूल पानी नहीं मिलने पर भी इस तरह नहीं मुरझाया करते।

इस भयानक भूल की सफाई हम भले दें लेकिन चाह कर भी मन को स्थिर नहीं कर पायेंगे और न तो भावी इतिहास के सामने इस प्रश्न का हम कोई समुचित उत्तर दे पायेंगे कि यह क्या हुआ, कैसे हुआ, किसने किया, क्यों हुआ, और उसके बाद जे० पी० की सास चलती रहे या बन्द हो जाए अलग बात है लेकिन सत्ता का यह शर्मनाक घोड़ा अभी भी हवा में उड़ता रहेगा। और शर्म नहीं आएगी। क्या इस पीड़ा को कभी भारतीय इतिहास भूल पाएगा या क्षमा कर देगा।

□

प्रिय पाठक !

इस पुस्तक की विषय-वस्तु और डिजाइन के संबंध में आप अपने विचार हमें अवश्य प्रेषित करें साथ ही यह भी बताएं कि हम आपकी संतुष्टि के लिए अन्य क्या पग उठाएं।

हमारा पता—

तिरुपति प्रकाशन,
प्रेमपुरा,
हापुड़-२४५१०१